(कक्षा ११ के लिए वैकल्पिक हिन्दी की पाठ्यपुस्तक)

[illegible]

भाग १

(कक्षा ११ के लिए वैकल्पिक हिन्दी की पाठ्यपुस्तक)

अनिल विद्यालंकार   शशि कुमार शर्मा
रामजन्म शर्मा   अनिरुद्ध राय



राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

फरवरी 1989 माघ 1910

पुनर्मुद्रण

मार्च 1990 : फाल्गुन 1911

P.D. 70T – DPS

प्रकाशन सहयोग

सी.एन. राव : **अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग**

प्रभाकर द्विवेदी : **मुख्य सम्पादक**

दिनेश सक्सेना : **सम्पादक**

यू. प्रभाकर राव : **मुख्य उत्पादन अधिकारी**

सुरेन्द्र कांत शर्मा : **उत्पादन अधिकारी**

चंद्रप्रकाश टंडन : **कला अधिकारी**

शिवकुमार : **सहायक उत्पादन अधिकारी**

मो. समिउल्लाह : **उत्पादन सहायक**

आवरण पारदर्शी : **निर्मल झुनझुनवाला**

मूल्य : रू. 8.45

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016 द्वारा [illegible] मध प्रिंटर्स बी-62/4, नारायणा इंडस्ट्रिय

आमुख

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के तत्त्वावधान में विद्यालय-स्तर पर विभिन्न शैक्षिक विषयों के लिए पाठ्यक्रमों, पाठ्यपुस्तकों आदि के निर्माण का कार्य लगभग ढाई दशकों से हो रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा-नीति 1986 के लागू होने के साथ ही ऐसी शिक्षण-सामग्री की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा जो नई शिक्षा नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हो। इस नीति के अनुसार शिक्षा बाल-केन्द्रित होगी और छात्रों के सर्वांगीण विकास पर बल दिया जाएगा। नई शिक्षा नीति में भारत के राष्ट्रीय जीवन के लिए आवश्यक कुछ महत्त्वपूर्ण मूल्यों को केन्द्रिक शिक्षाक्रम के रूप में स्थान दिया गया है। यह एक दूरगामी शिक्षा नीति है और यदि इसका पालन सही ढंग से किया जाए तो भारत के नव-निर्माण में इससे महत्त्वपूर्ण योगदान मिल सकता है।

नई शिक्षा नीति की महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी बाह्य संरचना का गठन नहीं है, अपितु वह परियोजन एवं दृष्टिकोण है जो शिक्षा का संबंध राष्ट्रीय विकास के साथ जोड़ने पर बल देता है। इस दृष्टि से नवीन पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में निम्नलिखित सिद्धांतों का विशेष रूप से समावेश किया गया है–

1. ऐसी पाठ्यसामग्री एवं शैक्षिक क्रियाओं का समावेश जिनसे बालकों में राष्ट्रीय लक्ष्यों–जनतांत्रिकता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, सामाजिक न्याय तथा राष्ट्रीय एकता–के प्रति चेतना एवं आस्था उत्पन्न हो और उनमें तर्कसंगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो।
2. पाठ्यचर्या एवं पाठ्यसामग्री भारत की जीवन-परिस्थितियों तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश पर आधारित हो और उनमें वांछित भावी विकास की दिशा भी परिलक्षित हो।
3. पाठ्यपुस्तकें बालकों के भावात्मक एवं बौद्धिक उत्कर्ष, चरित्र-निर्माण तथा

स्वस्थ मनोवृत्ति के विकास की दृष्टि से प्रेरणादायी सिद्ध हों, उनके द्वारा छात्रों में स्वयं शिक्षा एवं अधिकाधिक ज्ञानार्जन की उत्कंठा जागृत हो और वे निर्धारित पाठ्यविषय तक ही सीमित न रहकर विशद एवं व्यापक अध्ययन के लिए जिज्ञासु तथा तत्पर बने रहें।

4. नई शिक्षा नीति के आधारभूत सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए पाठ्यसामग्री के चयन में केन्द्रिक शिक्षाक्रम से संबंधित विषय सामग्री एवं जीवन-मूल्यों पर विशेष बल है।
5. सांप्रतिक एवं भावी जगत् को सुखद, सुंदर बनाने वाली जीवन परिस्थितियों की ओर संकेत करने वाले पाठों का समावेश किया गया है।

उपर्युक्त सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए विविध विषयों के पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण की योजना तैयार की गई है। इस कार्य को सभी दृष्टियों से परिपूर्ण एवं प्रामाणिक बनाने के लिए राष्ट्रीय स्तर के विषय-विशेषज्ञों, अधिकारी विद्वानों एवं शिक्षकों का सहयोग प्राप्त किया गया। इस संदर्भ में केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की हिन्दी समिति के अध्यक्ष प्रो. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव तथा अन्य सदस्यों के सहयोग के लिए मैं विशेष आभारी हूँ।

परिषद् के सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के अध्यक्ष प्रो. अनिल विद्यालंकार तथा हिन्दी भाषा संबंधी कार्यों से संबद्ध डा. शशिकुमार शर्मा, डा. रामजन्म शर्मा और डा. अनिरुद्ध राय ने पुस्तक का संपादन किया है।

मैं अपने इन सभी सहयोगियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

जिन कृती लेखकों ने अपनी रचनाएँ इस पुस्तक में सम्मिलित करने की अनुमति दी है, उनके प्रति हम विशेष रूप से अनुगृहीत हैं।

आशा है, छात्रों की भाषिक तथा साहित्यिक रुचियों कें विकास की दृष्टि से यह पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी। इसके परिष्कार की दृष्टि से सुविज्ञ जनों द्वारा भेजे गए सुझावों और परामर्शों का हम सदा स्वागत करेंगे।

पी.एल. मल्होत्रा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली

आचार्य वामन ने 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' गद्य कवियों की कसौटी है कहकर साहित्य में गद्य की महत्ता प्रतिष्ठापित कर दी थी, फिर भी अन्य भाषाओं की भाँति हिन्दी में भी लिखित गद्य का विकास पद्य के बहुत बाद में हुआ।

आधुनिक हिन्दी गद्य का वास्तविक आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, पं० लल्लूलाल और सदल मिश्र से माना जाता है। इसी समय सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा के प्रचार के लिए गाँवों और कस्बों में स्कूल खुलवाए। तब प्रश्न उठा कि शिक्षा का माध्यम हिंदी हो या उर्दू। काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने, जिनकी नियुक्ति शिक्षा-विभाग में इंस्पेक्टर के पद पर हुई थी, हिन्दी का पक्ष लिया, किन्तु उन्होंने आमफ़हम भाषा पर बल दिया, जिसमें सरल एवं प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग हो। आगरा के राजा लक्ष्मण सिंह ने 'सितारे हिन्द' की उर्दू परस्ती का विरोध किया और उन्होंने हिन्दी में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग सर्वथा अनुचित ठहराया। फारसी के प्रभाव से हिन्दी को मुक्त कराने के लिए उन्होंने 1832 ई० में 'प्रजा हितैषी' पत्रिका निकाली। अभिज्ञान शाकुंतल, मेघदूत और रघुवंश का हिन्दी में अनुवाद किया। यद्यपि उनकी भाषा में जहाँ-तहाँ पुराने प्रयोग मिलते हैं फिर भी उन्होंने हिन्दी गद्य को पहली बार पुष्ट एवं व्यवस्थित किया।

आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश'(1882 ई०) की रचना हिन्दी में की और अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी में भाषण दिए। ब्राह्म समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने वेदांत-सूत्रों का स्वतंत्र भाष्य हिन्दी में प्रकाशित कराया और हिन्दी को ही जन सम्पर्क की भाषा बनाया।

खडी बोली गद्य का काल-विभाजन : वस्तु वर्णन और शैली-विकास के आधार पर खड़ी बोली के गद्य को निम्नांकित चार कालों में विभाजित किया जा सकता है:

1. भारतेन्दु युग या नव जागरण काल (1850-1900 ई.)
2. द्विवेदी युग या हिन्दी-गद्य का परिष्कार काल (1900-1920 ई.)
3. उत्कर्ष काल (1920-1940 ई.)
4. वर्तमान काल या बहु आयामी प्रगतिकाल (1940 से आजतक)

1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम को विफल कर देने के बाद अंग्रेजों ने भारत को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया और अपने सुदृढ़ शासन की नींव डाली। अंग्रेजों की अधीनता में भारतीयों का सोया स्वाभिमान जाग उठा। सामाजिक एवं धार्मिक सुधार, सांस्कृतिक आंदोलन, ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष, राष्ट्रीय भावना का उदय आदि अनेक रूपों में नई चेतना उत्पन्न हुई और जन-जागरण ज़ोर पकड़ता गया। इनके कारण एक राष्ट्रभाषा की संकल्पना जगी जिसकी सही पहचान भाषा सर्वेक्षक डा. ग्रियर्सन, गुजरातीभाषी स्वामी दयानंद सरस्वती, बँगलाभाषी केशवचंद सेन आदि कर चुके थे। शिक्षा का प्रचार-प्रसार और रेल, डाक आदि संचार साधनों के विकास के कारण परस्पर संपर्क और विचार-विनिमय प्रारंभ हो चुका था। इस नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माध्यम के रूप में हिन्दी गद्य साहित्य का विकास हुआ।

भारतेन्दु-युग या नवजागरण काल : नवजागरण की इस चेतना को भाषा एवं साहित्य से जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने। भारतेन्दु हरिश्चंद्र वास्तविक अर्थ में हिन्दी गद्य के प्रवर्तक थे। उन्होंने सन् 1873 में अपनी डायरी **कालचक्र** में लिखा है—'हिन्दी नई चाल में ढली।' यह नई चाल की हिन्दी लगभग वही है जिसे हम आज भी लिखते-पढ़ते हैं, भले ही विकासक्रम में उसका रूप उत्तरोत्तर निखरता गया है। उन्होंने खड़ी बोली को सरल, सुबोध और संप्रेषणीय बनाने की दिशा में स्तुत्य प्रयास किए। अपने समकालीन लेखकों—राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मण सिंह — के भाषा संबंधी विवाद को अपनी समन्वयी दृष्टि से दूर करके उन्होंने सहज-सरल हिन्दी गद्य का क्षेत्र व्यापक बनाया और निबंध, नाटक, कहानी, उपन्यास, समाचार-पत्र आदि विविध विधाओं में साहित्य सृजन कर नए युग के प्रवर्तक का कार्य किया। गद्य साहित्य का सम्यक् विकास करने के लिए उन्होंने गोष्ठियों का आयोजन किया तथा कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरंभ किया-कराया। बालकृष्ण भट्ट ने **हिन्दी प्रदीप** का संपादन किया। प्रताप नारायण मिश्र ने **ब्राह्मण**

पत्रिका के संपादन के साथ **नाटक सभा** नाम की एक संस्था भी बनाई थी। उसके माध्यम से वे पारसी थियेटर के समानांतर हिन्दी का अपना रंगमंच खड़ा करना चाहते थे। वे स्वयं भी भारतेन्दु की भाँति कुशल अभिनेता थे। भारतेन्दु ने **कवि वचन सुधा** और **हरिश्चंद्र चंद्रिका** का प्रकाशन स्वयं किया। उनके लेखक-मंडल में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन', बालमुकुंद गुप्त, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख थे। इस प्रकार खड़ी बोली गद्य के विकास का सर्वाधिक श्रेय भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों को है, क्योंकि उन्होंने हिन्दी गद्य का मार्ग प्रशस्त करने के साथ-साथ उसे विकासोन्मुखी भी बनाया।

इस युग की मुख्य उपलब्धि है हिन्दी गद्य को पौराणिक वातावरण से निकालकर सामान्य जीवन के विषयों पर साहित्य सृजन।

2. **द्विवेदी युग या हिन्दी गद्य का परिष्कार काल:** द्विवेदी युग आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनकी प्रसिद्धि का आधार था हिन्दी भाषा के परिष्कार का प्रयास। **सरस्वती** पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने हिन्दी के लेखकों का ध्यान व्याकरण संबंधी अशुद्धियों की ओर आकृष्ट किया। **हिन्दी की वर्तमान अवस्था** शीर्षक लेख में उन्होंने भाषा की शब्दग्राह्यता पर विचार व्यक्त किए। हिन्दी व्याकरण के अनेक विवादग्रस्त विषयों का स्पष्टीकरण भी उन्होंने किया।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों तथा अपने सहयोगियों के सम्मिलित प्रयासों से हिन्दी गद्य को जो रूप दिया उसमें सरलता और संप्रेषणीयता होने के बावजूद व्याकरण की व्यवस्था नहीं थी। भाषा विषयक अराजकता उसमें बनी हुई थी क्योंकि अधिकांश गद्य लेखकों का ध्यान विषयगत भिन्नता पर था, भाषा-परिष्कार पर नहीं। हिन्दी में लेखक भिन्न-भिन्न भागों के स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग कर रहे थे। हिन्दी को नई चाल में ढाल देने पर भी भारतेन्दु उसमें एकरूपता नहीं ला सके थे। उसमें न व्याकरण की व्यवस्था थी, न ही शब्दों के सही रूप और प्रयोग का निर्धारण ही हुआ था। हिन्दी भाषा को व्याकरण सम्मत रूप देने का कार्य द्विवेदी युग में पूरा हुआ।

सरस्वती के अलावा कामता प्रसाद गुरु के **हिन्दी व्याकरण** ने भी हिन्दी को व्याकरण सम्मत बनाने और लेखकों का मार्गदर्शन करने में अभूतपूर्व कार्य किया।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके सहयोगियों ने गद्य की जितनी विधाओं का आरंभ किया था, द्विवेदी-युग में उन्हें विकसित होने का व्यापक आयाम मिला। इस युग के जिन प्रौढ़ गद्य लेखकों ने अपनी समर्थ लेखनी से गद्य को परिमार्जित और पुष्ट किया उनमें पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी, सरदार पूर्णसिंह, बाबू श्यामसुंदर दास, पं. पद्मसिंह शर्मा, पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी, माधव प्रसाद मिश्र, ब्रजरत्नदास आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी युग में प्रेमचंद अपनी नवीन, सरल और मुहावरेदार शैली लेकर आए। इनकी कहानियाँ और उपन्यास लेखकों के आदर्श बने। वे पहले उर्दू में लिखते थे, लेकिन राष्ट्रीय जागरण की लहर में हिंदी एक प्रबल धारा थी जो जन मानस को आकृष्ट कर रही थी। उन्होंने हिन्दी के लोक-व्यापी प्रभाव को समझा और उसके अनुसार हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए। हिन्दी गद्य को अभिव्यंजना शक्ति से पूर्ण करने के कारण प्रेमचंद को सदा स्मरण किया जाएगा। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में हिंदी-उर्दू की विभाजक रेखाओं को जिस समन्वयात्मक दृष्टि से मिटाया वह आज भी अनुकरणीय है। प्रेमचंद की भाषा-शैली इसीलिए राष्ट्रीय एकता की दिशा में स्तुत्य प्रयास है।

यह युग राष्ट्रीय जागरण काल था। इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना (1885 ई.) में हो चुकी थी और राष्ट्रीय जागरण ज़ोर पकड़ रहा था। ब्रिटिश शासन से मुक्त होकर स्वतंत्र भारत का स्वप्न देखने वाले नेता अपनी आवाज़ बुलंद करने लगे थे। ऐसी जागृति के समय भाषा के सामर्थ्य पर जन साधारण का ध्यान जाना स्वाभाविक था। नेताओं की भी समाज-सुधार और राष्ट्रीय चेतना विषयक वस्तुएँ, लेख, भाषण आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे थे और जनता उन्हें पढ़ने लगी थी। राष्ट्रीय जागरण के इस युग में सामाजिक और शैक्षिक जगत् में अनेक सुधार के कार्य हुए।

3. **उत्कर्षकाल** (1920-1940 ई.) गद्य की प्रांजलता, प्रौढ़ता और उत्कृष्टता की दृष्टि से इस युग में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने निबंधों में वैयक्तिक संस्पर्श के साथ भाव और विचार को व्यक्त करने की जो शैली स्वीकार की है, वह पूर्ववर्ती किसी लेखक के पास नहीं थी। गंभीर विचार, उदात्त भाव, गहन चिन्तन-मनन, सरस हास्य-व्यंग्य के छींटे उनके निबंधों में उपलब्ध होते हैं। जटिल मनौवैज्ञानिक निबंधों को भी उन्होंने अपनी शैली से रोचक बना दिया। उन्होंने हिन्दी साहित्य का प्रथम प्रामाणिक इतिहास लिखा।

आधुनिक गद्य की भाषा और साहित्य के स्वरूप निर्माण में डा० श्यामसुंदर दास

और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने महत्वपूर्ण कार्य किये। शुक्ल–युग में छायावादी काव्य ने भाषा और शैली की दृष्टि से हिन्दी गद्य को भी प्रभावित किया। द्विवेदी जी ने जिन असंख्य विषयों पर गद्य–रचना की प्रेरणा दी थी, उनमें सूक्ष्मता और भावात्मकता का गहरा रंग छायावादी गद्यकारों ने भरा। इस युग के गद्य लेखकों ने भाषा में दृढ़ता, भावों में गांभीर्य और शैली में प्रौढ़ता का परिचय दिया। इस प्रकार इस युग का गद्य सबल और परिष्कृत हुआ। उपन्यासों के नायक और कथानक सामान्य जनता से चुने गए। सामाजिक विषयों को नवीन दृष्टि से देखा गया। भाषा में लाक्षणिकता तथा कलात्मकता को प्रश्रय मिला। निबंध, कहानी, नाटक, एकांकी, आलोचना आदि लघु कलेवर के साहित्य का प्रचलन बढ़ा। सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में समन्वय किया गया जिससे रचनाओं के मूल्यांकन में सरलता हुई तथा रचना का वास्तविक महत्व व्यक्त हुआ। इस युग का आलोचना–साहित्य बड़ा ही प्रौढ़ और उन्नत है। डायरी तथा पत्र शैली में उपन्यास और कहानी लिखने की परंपरा विकसित हुई। रेडियो नाटक आदि का अधिक विकास हुआ। शिकार, यात्रा, वैज्ञानिक विषय आदि बहुतायत से लिखे गये। गद्यकाव्य की रचनाएँ भी लिखी गईं। भारतीय भाषाओं के अलावा विदेशी साहित्य की प्रमुख रचनाओं के अनुवाद हिन्दी में हुए।

आचार्य शुक्ल के समकालीन गद्य लेखकों में श्यामसुंदर दास, गुलाब राय, रामवृक्ष बेनीपुरी, राहुल सांकृत्यायन, माखनलाल चतुर्वेदी, रायकृष्ण दास, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि, जयशंकर प्रसाद आदि के नाम उत्कृष्ट गद्य शैली की दृष्टि में महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी गद्य को व्यापक क्षितिज प्रदान करने में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योगदान रहा। आलोचना के क्षेत्र में नंददुलारे वाजपेयी का नाम उल्लेखनीय है।

4. वर्तमान काल या बहु आयामी प्रगति का युग (1940 से आजतक) जिस प्रकार काव्य के क्षेत्र में छायावाद के विरोध में प्रगतिवाद आया इसी प्रकार गद्य क्षेत्र में प्रगतिवादी गद्य जीवन और जगत के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण लेकर आया। प्रगतिवादी लेखक अपनी रचनाओं में सामाजिक क्रांति, रूढ़िगत संस्कारों का विरोध और जीवन को यथार्थवादी दृष्टि से देखने पर बल देते हैं। डा० रामविलास शर्मा, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, हरिशंकर परसाई आदि प्रगतिवादी लेखन से संबद्ध हैं।

प्रयोगवादियों ने काव्य की भाँति गद्य के क्षेत्र में भी नये प्रयोग किए। फलतः भाषा

की प्रौढ़ता और प्रांजलता बढ़ी, लेकिन भावों और संवेदनात्मक विचारों में जटिलता के कारण ग्राह्यता में कठिनाई आई है। स. ही. वात्स्यायन अज्ञेय, विद्यानिवास मिश्र, विवेकी राय, कुबेरनाथ राय आदि की रचनाएँ भाषा और शैली की विविधता की दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं।

नव लेखन के नाम से 20-25 वर्ष पहले जो आंदोलन आरंभ हुआ था वह अब नया न रहकर गद्य की मुख्य धारा में समाविष्ट हो गया है। गद्य की विधाओं के प्रचलन से गद्य निरंतर पुष्ट, प्रांजल और प्रवाहपूर्ण हो रहा है। आज हिन्दी गद्य इतना पुष्ट और संपन्न हो गया है कि इसमें जटिल से जटिल भावों और विषयों को व्यक्त करने की क्षमता आ गई है।

विकास का क्रम प्रारंभ में सरल और मंदगामी होता है, लेकिन कालांतर में परिवर्तित वातावरण के कारण उसके क्रम में जटिलता और गति में तीव्रता आ जाती है। प्रारंभ के अस्त-व्यस्त, अव्यवस्थित तथा सामान्य रूप से बढ़कर हिन्दी भाषा और साहित्य के विविध रूपों में व्यापकता, प्रौढ़ता और लाक्षणिकता आई है। आज गद्य की सभी विधाएँ सर्वांगीण विकास कर रही हैं और उसमें विपुल साहित्य रचा जा रहा है। अतएव हम कह सकते हैं कि हिन्दी गद्य का भविष्य उज्जवल है।

-संपादक

विशेष सहयोग

डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, अध्यक्ष, हिन्दी समिति, केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० राजदेव सिंह, श्री निरंजन कुमार सिंह, डा० आनन्द प्रकाश व्यास, डा० कृष्णदत्त पालीवाल, डा० मान सिंह वर्मा, डा० सच्चिदानंद सिंह साथी, डा० बालकृष्ण सिंघल, डा० कमल सत्यार्थी, डा० जयपाल सिंह तरंग, डा० भागीरथ भार्गव, डा० (श्रीमती) संतोष माटा, श्री कौस्तुभ पंत, श्री सुरेश पंत

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूँ। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो० क० गांधी

विषय-सूची

(तारांकित पाठ पूरक पठन के लिए और शेष पाठ गहन अध्ययन के लिए हैं।)

रामवृक्ष बेनीपुरी

(जन्म 1902 ई. मृत्यु 1968 ई.)

रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म बिहार प्रदेश के मुजफ्फरपुर ज़िले के बेनीपुर ग्राम में हुआ था। बचपन में ही उनके माता-पिता का निधन हो गया। उन्होंने कष्ट सहकर मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त की। सन् 1920 ई. में गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन प्रारंभ होने पर वे अध्ययन छोड़कर राष्ट्र-सेवा में लग गए। राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लेने के कारण उनको दस बार जेल जाना पड़ा।

उनके जीवन में राजनीति, साहित्य और संस्कृति की त्रिवेणी प्रवाहित है। उनका साहित्य गहन अनुभूतियों और उच्च कल्पनाओं का स्पष्ट प्रतिबिंब उपस्थित करता है। उनकी भाषा ओजपूर्ण, रोचक एवं सशक्त है। विशिष्ट प्रकार की अलंकृत तथा भावुकता प्रधान शैली के कारण हिन्दी गद्य के इतिहास में रामवृक्ष बेनीपुरी का अपना स्थान है।

बेनीपुरी 15 वर्ष की आयु से ही पत्र-पत्रिकाओं में लेखादि लिखने लगे थे। उन्होंने **तरुण भारत, किसान-मित्र, बालक, युवक, योगी, जनता, जनवाणी, हिमालय, नई धारा** आदि अनेक साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाओं का सफलतापूर्वक संपादन कर एक सुयोग्य पत्रकार एवं लोकप्रिय संपादक का यश अर्जित किया।

उपन्यास, नाटक, कहानी, यात्रा, संस्मरण, रेखाचित्र, निबंध आदि सभी गध-विधाओं में बेनीपुरी ने रचना की। उनकी कुछ रचनाओं का प्रकाशन बेनीपुरी-ग्रंथावली नाम से दो भागों में हुआ है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं—पतितों के देश में (उपन्यास), चिता के फूल (कहानी), माटी की मूरतें, तथा मन और विजेता (रेखाचित्र), नेत्रदान, अंबपाली (नाटक), गेहूँ और गुलाब (निबंध और रेखाचित्र), पैरों में पंख

बाँधकर (यात्रा वृत्तांत), जंजीरें और दीवार (संस्मरण)। उनकी प्रकाशित पुस्तकों की संख्या पचास से ऊपर है।

जीवन और मरण एक प्रेरक निबंध है जिसमें लेखक ने महात्मा गांधी के माध्यम से जीने की कला और अमर शहीद भगतसिंह के माध्यम से मरण कला की महानता प्रतिपादित की है। लेखक की स्थापना है कि जीवन एक कला है यदि कोई देश, समाज और दुनिया के लिए जीवित रहे और इसी प्रकार मरण भी एक कला है यदि कोई देश, समाज या विश्व-कल्याण के लिए आत्माहुति दे दे। लेखक का निम्नांकित निष्कर्ष स्मरण रखने योग्य है– "जीना कला तब है, जब साधना से उसे सुंदरतम और विस्तृततम बनाए जाए, मरना कला तब है जब मृत्यु का आह्वान एक विशेष अवसर पर एक विशेष उद्देश्य से किया जाए और हँसते-हँसते उसका वरण किया जाए। कला का प्रमाण है अमरता। वही जीवन कला है जिसमें अमरता निहित है। वही मरण कला है जो अमरता प्रदान करती है।"

1

जीवन और मरण

मैंने अपने एक नाटक में लिखा है – जीना एक कला है।
दूसरे नाटक में लिखने जा रहा हूँ – मरना भी एक कला है।

हाँ, जीवन और मरण दोनों ही कला हैं।

और, कला क्या है?

कला वह सुंदर उपादान है, जिसकी सृष्टि मानव द्वारा होती है। इंद्रधनुष सुंदर है, किन्तु वह कला नहीं है। किसी नंदलाल घोष या किसी रवीन्द्रनाथ की कूची या कलम से उतरने पर ही इंद्रधनुष की प्रतिकृति कला हो जाती है। मानव-कृति से परे की चीज़ कला नहीं कहला सकती।

जब हम कहते हैं, जीना कला है, तो हम मानते हैं कि आदमी का प्रयत्न उसमें लगा है और वह प्रयत्न सौन्दर्य की ओर उन्मुख है। सौन्दर्य यहाँ छोटे अर्थ में नहीं लिया गया है– इंदधनुष की रंगीनियों में ही सौन्दर्य नहीं है, काली भयावनी रात में भी सौन्दर्य है और यदि उसके बीच जुगनू चमक जाते हैं तो सौन्दर्य की इकाई पर अगणित शून्य पड़ते जाते हैं। वह दस गुना, सौगुना, हज़ार गुना बढ़ जाता है।

जीवन कला तब है, जब वह सौन्दर्य की ओर अग्रसर हो रहा है। सुंदर ही सत्य है। सुंदर जीवन-सच्चा जीवन तभी है!

किन्तु अन्य कलाओं की तरह जीने की कला भी सीखनी पड़ती है – सिर्फ सिद्धांत रूप में नहीं, कार्यरूप में!

यह लकीर इस तरह खींचो, यहाँ यह रंग दो, रंग और लकीर में यह तारतम्य रखो– सिर्फ ऐसे सिद्धांत सुनने से कला नहीं आती। कला अभ्यास खोजती है, सतत प्रयोग खोजती है, पहले बताए रास्ते पर चलना पड़ता है, किन्तु कला की उत्कृष्टता तब सिद्ध होती है जब अपने लिए रास्ता बनाने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

जीने की कला पर भी यही लागू है। जीवन के जितने कलाकार हैं उनकी ओर देखिए, तो बात स्पष्ट हो जाए।

हमारी इस दुनिया के जीवन के सबसे बड़े कलाकार हैं गांधी जी। गांधी जी के जीवन पर ही हम एक दृष्टि डालें!

छोटा-सा बच्चा, एक राज्य के दीवान के आँगन को दीवाना बनाता-सा। कुछ भोंदू, कुछ बदमाश। जूठी बीड़ियों पर ललचना, अखाद्य भोजन पर लार टपकाना। बाप मर रहा, आप बीबी से रंगरेलियाँ मना रहा। किन्तु जीवन में एक धक्का! चौंकता है, नहीं यह जीना जीना नहीं। जीना तो कला है। इस कला का अभ्यास शुरू करना है। पहले आधुनिक जीवन के महान कलाकारों का पदानुसरण करता है – इमर्सन, टालस्टाय, थूरो। अभ्यास से आत्मबल प्राप्त होता है – फिर आप रास्ता निकलता है। सत्य, अहिंसा, निग्रह, अपरिग्रह जीवन की कला के नए-नए 'पैटर्न' तैयार करने लगता है। आज संसार उसकी कला की ओर आश्चर्य से देख रहा है!

अभ्यास, सतत अभ्यास! प्रयोग, सतत प्रयोग-कला की निपुणता का रहस्य यहै है। आप अगर सच्चे अर्थ में जीना चाहते हैं, जीवन को कला के साँचे में ढालना चाहते हैं तो यही रास्ता आप के लिए भी खुला है!

किन्तु जीवन की मंज़िल बहुत बड़ी है; जीने की कला भी बहुत पेचीदी है। इसमें धीरज चाहिए, संयम चाहिए। यदि इस धीरज-संयम का अभाव आप में हो, तो मरने की कला सीखिए।

घबड़ाइए मत, मरण उतना भयानक नहीं है, जितना आप समझ रहे हैं। यह कुसंस्कार का फल है। जो संस्कार आपको अंधकार से डराता है, वही संस्कार आपको मृत्यु से भयभीत करता है। अंधकार को आप जीत रहे हैं, मृत्यु को भी आप जीत लेंगे।

इस जीत-हार में देर हो सकती है, पर मृत्यु को तो आज भी कला बना दे सकते हैं! आप!

मृत्यु के एक आधुनिक महान कलाकार को ही लेकर देखिए, तो बातें साफ़ हों।

एक नाम तो बताइए, जिसने मरने को कला के रूप में परिणत कर दिया हो, बताइए— देर क्यों हो रही है? अजी, भगतसिंह का नाम जल्दी क्यों नहीं ले लेते हैं! क्या आप उसे भूल रहे हैं?

हाँ, भगतसिंह — मृत्यु के कलाकारों में एक जगमगाता रत्न! वह भी जीना चाहता था, जीने की कला का वह विद्यार्थी था! किन्तु उसने देखा, वह कला लंबी है, उलझनों से भरी है। फिर पाया, बगल़ में ही एक कला और है जिसकी ज़रूरत देश महसूस कर रहा है किन्तु उस ओर बढ़ने की हिम्मत बहुत कम लोगों में होती है! पंजाब प्रतिहिंसा की आग में जला जा रहा था, हिन्दुस्तान आत्मग्लानि के खारे समुद्र में डूबा जा रहा था। इस आग-पानी के कुचक्र को सबसे बड़ी कुर्बानी देकर ही तोड़ा जा सकता था! — वह बढ़ा।

लाहौर की गलियों में मारा-मारा फिरनेवाला एक अर्द्धशिक्षित उतावला नौजवान एक ही दिन में समूचे राष्ट्र के यौवन और बलिदान का प्रतीक बन गया। जीवन-कला का असफल विद्यार्थी मृत्यु कला का आचार्यत्व प्राप्त कर गया। गांधी जी जीकर अमर हैं, भगतसिंह मरकर

अमर हो गया। जो अमरता अनन्य साधना के बाद मिलती, वह मृत्यु की क्षणिक उपासना से प्राप्त हो गई!

जीना कला है, मरना कला है। जीना कला तब है जब साधना से उसे सुंदरतम और विस्तृततम बनाया जाए; मरना कला तब है जब मृत्यु का आह्वान एक विशेष अवसर पर एक विशेष उद्देश्य से किया जाए और हँसते-हँसते उसे वरण किया जाए!

कला का प्रमाण है अमरता। वही जीवन कला है, जिसमें अमरता निहित है! वही मरण कला है जो अमरता प्रदान करती है।

जिसमें कला नहीं, वह जीवन तुच्छ। जिसमें कला नहीं वह मरण हेय। तुच्छ से बचो, हेय से बचो। सौन्दर्य की ओर बढ़ो, महानता की ओर बढ़ो, अमरता की ओर बढ़ो— जीवन और मरण का संदेश यही है।

प्रश्न-अभ्यास

1. 'जीवन और मरण' दोनों को लेखक ने कला क्यों कहा है?
2. 'जीवन और मरण' पाठ का संदेश क्या है?
3. अन्य कलाओं की तरह जीवन की कला को किस प्रकार सीखा जा सकता है?
4. कला में निपुणता प्राप्त करने के लिए अभ्यास क्यों आवश्यक है, सोदाहरण बताइए।
5. गांधी जी जीवन की कला के सबसे बड़े कलाकार कैसे बन गए?
6. "जीवन कला का असफल विद्यार्थी मृत्यु-कला का आचार्यत्व प्राप्त कर गया।" कौन था वह विद्यार्थी? उसने मृत्यु कला का आचार्यत्व कैसे प्राप्त किया?
7. आशय स्पष्ट कीजिए :
   (क) जो संस्कार आपको अंधकार से डराता है, वही संस्कार आपको मृत्यु से भयभीत करता है। अंधकार को आप जीत रहे हैं, मृत्यु को भी आप जीत लेंगे।

(ख) जीना कला तब है जब साधना से उसे सुंदरतम और विस्तृततम बनाया जाए, मरना कला तब है जब मृत्यु का आह्वान एक विशेष अवसर पर एक विशेष उद्देश्य से किया जाए।

8. "जिसमें कला नहीं, वह जीवन तुच्छ है" पाठ के आधार पर इस उक्ति का पल्लवन एक अनुच्छेद में कीजिए।

9. गांधी जी जीवन के एवं भगतसिंह मरण के कलाकार थे। कुछ अन्य महापुरुषों के नाम गिनाइए जिन्हें जीवन या मरण का कलाकार कहा जा सकता है।



कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

(जन्म 1906 ई.)

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का जन्म सहारनपुर के देवबन्द नगर में हुआ था। प्रारंभिक जीवन से ही राजनैतिक एंव सामाजिक कार्यों में भाग लेने के कारण उन्हें अनेक बार कारावास की यातना सहनी पड़ी।

पत्रकारिता-क्षेत्र में प्रभाकर जी का कार्य सराहनीय रहा है। **ज्ञानोदय** पत्रिका का कुछ समय तक संपादन करने के अलावा सहारनपुर से प्रकाशित होनेवाले पत्र **नया जीवन** तथा **विकास** का उन्होंने लंबे अर्से तक संपादन किया। कन्हैयालाल मिश्र ने रेखाचित्र, संस्मरण, निबंध, रिपोर्ताज लिखे हैं। उनकी शैली सजीव, प्रवाहपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी है। छोटी-से-छोटी एवं बड़ी-से-बड़ी बात को पूरी सहजता से कहने में वे सिद्धहस्त हैं। उनकी समस्त रचनाओं में नवीनता एवं ताज़गी रहती है जो पाठकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है।

प्रभाकर जी की प्रमुख रचनाएँ हैं – नई पीढ़ी : नए विचार, ज़िन्दगी मुसकराई, माटी हो गई सोना, आकाश के तारे धरती के फूल, दीप जले शंख बजे, बाजे पायलिया के घुँघरू, क्षण बोले: कण मुसकाए, महके आँगन: चहके द्वार, जिएँ तो ऐसे जिएँ आदि।

लोक-मंगल एक विचारात्मक निबंध है जिसमें समानार्थी शब्दों – लोकतंत्र, लोकनीति और लोक-मंगल के अंतर को पहले स्पष्ट किया गया है तथा तीनों ही समस्त पदों के प्रथम पद – लोक – को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है। बाद में लेखक ने लोक की सर्वथा नई परिभाषा दी है – "मूक सामूहिक मानवता ही लोक है।" लेखक ने महात्मा गांधी की मान्यता को दोहराया है यद्यपि "हमारा जन-समूह निरक्षर है, परंतु मूर्ख नहीं"। अंत में इस कथन की पुष्टि स्वाधीनता संग्राम की घटनाओं और अनेक

ऐतिहासिक प्रमाणों से की है। ''लोक का प्रशिक्षण पुस्तकों से नहीं, परंपरा और संस्कारों से होता है और उसकी विभूति उसका अक्षर ज्ञान नहीं, सहज ज्ञान होता है'' विशेष रूप से ध्यातव्य है। इसी प्रकार नेता के संबंध में लेखक का यह विचार महत्त्वपूर्ण है – ''लोक के मानस में भाव होते हैं, पर भाषा नहीं होती। जो व्यक्ति उस भाव को भाषा देता है, लोक जीवन में उसे ही अपना नेता, कर्णधार, अपना आदर्श मानने की स्वेच्छा उत्पन्न हो जाती है। यह मेरी कुंजी का पूर्वार्द्ध है, उत्तरार्द्ध यह है कि लोक के मानस में आकांक्षा होती है, पर उस आकांक्षा को पूर्ण करने की योजना नहीं होती। जो उसे यह योजना दता है, उस योजना पर चलने की प्रेरणा देता है, चलाता है और लक्ष्य पर पहुँचने से पहले रुकने, थकने नहीं देता, वही उसका आराध्य नेता और आदर्श पुरुष हो जाता है।''

2

लोक-मंगल

भारत की स्वतंत्रता के आने पर एक शब्द उभरा था लोकतंत्र, विनोबा ने एक पुराने शब्द को नई चमक दी – वह था लोकनीति। तब एक शब्द उभरा लोक-मंगल। नीति और मंगल में लाख दूरी हो, पर तीनों जगह लोक ही मुख्य है, तो हम जाने कि लोक ही मुख्य है, पर वह है क्यों? और उस लोक की जीवन-प्रक्रिया क्या है?

यह जानना आवश्यक है, क्योंकि लोक को जाने बिना न उसका तंत्र संभव है, न नीति, न मंगल! लोक को जानना राष्ट्र की आवश्यकता है। लोक को न जाने और लोकतंत्र चलाए, तो बिखराहट आती है और लोक तो हो जाता है लुप्त, रह जाता है सिर्फ तंत्र – दूसरे शब्दों में जड़ नौकरशाही! लोक को जाने बिना लोकनीति रह जाती है अच्छे सिद्धांतों की कोरी घोषणा, जिससे उपवन खूब लगते हैं, पर फल हाथ नहीं आते! लोक को जाने बिना लोक-मंगल बन जाता है ऐसी वर्षा, जिसमें कपड़े भीगते हैं, खेतों की प्यास नहीं बुझती कि बीज अंकुरित हो।

तो आवश्यक है यह जानना कि लोक क्या है और उसकी

जीवन-प्रक्रिया क्या है? मैं नहीं जानता कि बहस-व्यवसायी विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है या नहीं। इस स्थिति में मेरा आधार तो मेरा चिन्तन और अनुभव ही होगा! मेरी दृष्टि से मूक सामूहिक मानवता ही लोक है! देश की जनसंख्या का एक छोटा भाग है, जिसे धन-साधन-शिक्षा और पद प्राप्त है। यह वाचाल है, अधिकार-संपन्न है और उस अधिकार का उपयोग भी करता है। ऊपर से देखें, तो लगता है मानो यही देश का सब कुछ है, पर यह तो बहुत छोटा अंश है, जैसे रुके हुए बरसाती पानी के ऊपर फैली काई, जो पानी को ढकती है, पानी का शोषण करती है और यह महत्त्वपूर्ण न होकर महत्त्वपूर्ण बनी रहती है।

मेरे महान देश में गांधी जी ने जिस दिन कहा था, "हमारा जन-समूह निरक्षर है, मूर्ख नहीं, बस उसी दिन लोकतंत्र का वास्तविक शिलान्यास हुआ था, लोकनीति की नींव पड़ी थी और लोकमंगल राष्ट्र के बुद्धिजीवियों का चिन्तनीय विषय बना था। लोक के इस चैतन्य तत्त्व का अनुभव मुझे बचपन में अपने ही घर में हुआ था। मेरी माँ निरक्षर थीं, पर पिता जी जिस पुस्तक का नाम लेते थे, उसे ही पुस्तकों के संदूक में से निकाल लाती थीं! मैं कहना चाहता हूँ, लोक का प्रशिक्षण पुस्तकों से नहीं, परंपरा और संस्कारों से होता है और उसकी विभूति उसका अक्षर ज्ञान नहीं, सहज ज्ञान होता है! लोक इस सहज ज्ञान से ही विवाद के समय में निष्कर्ष पर पहुँचता है, जब कि शिक्षित सहारा लेता है तर्क-संगति का, 'रीजनिंग' का।

हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन और माओ की अधिनायकता के समर्थक मज़ाक उड़ाते हैं लोकतंत्र का, यह कहकर कि वह निन्नानवे मूर्खों का एक समझदार पर शासन है और अधिनायकता उसके हाथ (वोट) नहीं गिनती, उसके मस्तिष्क जाँचती है, पर सच्चाई यह है कि यह उद्दंड शक्ति का एक 'धुआँधार' नारा ही है, सत्य का उद्घोष नहीं।

इसके विरुद्ध लोकतंत्र लोकमत को सदा प्रामाणिक और असंदिग्ध निर्णायक मानकर महत्त्व देता है। वह शिक्षितों, बौद्धिकों की कर्म-शक्ति में विश्वास करता है, पर निर्णय का, कर्म के लिए बौद्धिकों के निर्वाचन का अधिकार वह मूक मानव-समूह के लोकमत को ही देता है। इसका अंतर्रहस्य एक विश्वास है, एक आस्था है कि लोक में, जन-समूह में, ऐसे व्यक्ति हैं जो मूर्ख हैं, कुमति हैं, कुमार्गगामी हैं, निर्णय-शून्य हैं, पर प्रकृति का यह एक विराट सत्य है कि व्यक्ति के रूप में बँटा हुआ और ग़लत निर्णय लेनेवाला लोक जब सामूहिक रूप में निर्णय करता है, तो उसमें कभी भूल नहीं होती – जनता का सामूहिक निर्णय सदा सत्य, शिव और सुंदर होता है। हमारे देश की ही लोकोक्ति है – "आवाज़-ए-ख़ल्क, नक्कार-ए-ख़ुदा—ख़ल्क की, जन-समूह की आवाज़ में, ईश्वर की घोषणा में, भूल कहाँ?

मुझे सन् 1936 में पहली बार लोक की सत्ता का, लोकमत की महत्ता का अनुभव हुआ था। भारत में धन और डिग्री के आधार पर कुछ लाख मनुष्यों को ही मत देने का अधिकार प्राप्त था। 1935 के नए संविधान के अनुसार लार्ड लौथियन की अध्यक्षता में जो समिति बनी, उसने इन लाखों को करोड़ों में बदल दिया। तब 1936 में हुआ आम चुनाव प्रांतीय विधान सभाओं का। कांग्रेस-अध्यक्ष के रूप में जवाहरलाल नेहरू ने देश का तूफ़ानी दौरा किया। उत्तर प्रदेश के कई ज़िलों में मुझे पंडित जी के साथ रहने का सौभाग्य मिला। तभी मैं लोकमत की शक्ति का अनुभव कर पाया। तब तक यह परंपरा थी कि ज़मींदार जिस उम्मीदवार के साथ हुआ, उसकी ज़मींदारी के मतदाता उसे ही वोट देते थे। इस बार भी ज़मींदार गाँव वालों से कह रहे थे कि वे सरकार-परस्त उम्मीदवारों को ही वोट दें, पर जनता का मत कांग्रेस के उम्मीदवारों के साथ था, जो 1930-32 के आंदोलनों में लाठ़ियाँ खा चुके थे, जेल जा चुके थे। ज़मींदार वोटरों के साथ घोर

अत्याचार कर रहे थे। वोटर नेहरू जी को इनकी, इन अत्याचारों की कथा सुनाते थे, पर छाती पर हाथ रखकर यह भी कहते थे, "अरे जवाहरलाल, चाहे धरती फट जाए, पर हम वोट तुझे ही देंगे।" मुझे उनकी निर्णयशक्ति देखकर रोमांच हो आता था। इस रोमांच में ही मुझे लोकमत के स्वरूप का दर्शन और शक्ति का बोध मिला था।

इस बोध के बाद ही लोक मेरे चिन्तन का विषय बना। गांधी जी की शक्ति थी लोक का अंतर्ज्ञान। लोक-जीवन को गांधी जी किस तरह देखते, परखते और प्रभावित करते हैं, इसे मैं गांधीजी की निकट कृपा में देख सका, वह मेरे सार्वजनिक जीवन की कृतार्थता है। मेरा विचार है कि लोक-जीवन या लोक-मानस को नेता के द्वारा प्रभावित करने की कला का जैसा प्रदर्शन सन् 1929-30 में हुआ, वैसा हमारे देश के आधुनिक इतिहास में कभी नहीं हुआ। बलिदान के राजकुमार सरदार भगतसिंह ने भारत के लोक-जीवन को उसी तरह वेग से – सांडर्सवध और असेम्बली बमकांड के द्वारा – अपनी ओर खींचा, जैसे चतुर मछेरा मछलियाँ आ जाने पर अपना जाल खींचता है। यह गांधी जी के लिए सैद्धांतिक रूप से भी और व्यक्तिगत रूप से भी एक महान् चुनौती थी; एक चुनौती कि वे एक दाव भी चूक जाएँ तो इतिहास उन्हें उसी कूड़ाघर में फेंक दे, जिसमें उसने 15 अगस्त 1947 के बाद देश के राय बहादुरों-ख़ान बहादुरों को फेंक दिया।

हमारे इतिहास का यह अध्याय अद्भुत है और इसका चमत्कार यह है कि गांधी जी इस कला के चतुर खिलाड़ी ही नहीं, आचार्य सिद्ध हुए, पर भगतसिंह भी उन्नीस नहीं, इक्कीस ही रहे। दुर्लभ फल यह हुआ कि लोक-जीवन की बागडोर गांधीजी के हाथ में चली गई, पर भगतसिंह का सिंहासन इतिहास के शिखर पर ही रहा।

गांधीजी और भगतसिंह लोक-जीवन की कुंजी किस तत्त्व को मानते थे, इसका समाधान करने की स्थिति यहाँ नहीं है। यहाँ तो इस संबंध में मैं

इतना ही कह सकता हूँ कि भगतसिंह लोक-मानस में अपने अनुकूल वातावरण को अपने प्रयत्नों से निर्माण करने में दक्ष थे और गांधीजी सामयिक परिस्थितियों से स्वयं उत्पन्न वातावरण को अपने अनुकूल उपयोग करने में बेजोड़ थे।

इस अध्याय का गंभीर और निकट का अध्ययन कर लोक-जीवन की जो कुंजी मेरे हाथ लगी, वह यहाँ परस रहा हूँ।

लोक के मानस में भाव होते हैं, पर भाषा नहीं होती। जो व्यक्ति उस भाव को भाषा दे देता है, लोक-जीवन में उसे ही अपना नेता, अपना कर्णधार, अपना आदर्श मानने की स्वेच्छा उत्पन्न हो जाती है। यह मेरी कुंजी का पूर्वार्द्ध है। उत्तरार्द्ध यह है कि लोक के मानस में आकांक्षा होती हैं, पर उस आकांक्षा को पूर्ण करने के प्रयत्नों की योजना नहीं होती। जो उसे यह योजना देता है, उस योजना पर चलने की प्रेरणा देता है, चलाता है और लक्ष्य पर पहुँचने से पहले रुकने, थकने नहीं देता, वही उसका आराध्य नेता और आदर्श पुरुष हो जाता है।

हम सब अपने जीवन में भी इस कुंजी को कसौटी पर रख सकते हैं। हम जो कुछ करना चाहते हैं और प्रयत्न करने पर भी नहीं कर पाते, उसे जो अपने प्रयत्नों से कर लेता है, हम उसे अपने से श्रेष्ठ, शक्तिशाली और भाग्यवान मानते हैं। इसे एक बहुत साधारण उदाहरण द्वारा परखें। हम यात्रा करने के लिए, कहीं जाने के लिए स्टेशन जाते हैं, टिकट ख़रीदते हैं और गाड़ी के आने पर उसमें बैठने के लिए लपकते हैं। छोटी क्लास का टिकट हमारी जेब में होता है। हम देखते हैं कि बड़ी क्लास का कंपार्टमेंट हमारे सामने है और एक मनुष्य उसमें बैठा है। हम उस मनुष्य की शिक्षा, संस्कृति, संपदा को नहीं जानते, पर बिना यह सब जाने भी मान लेते हैं कि कोई बड़ा आदमी है, यानी इससे श्रेष्ठ है। क्यों? क्योंकि हम भी बड़ी क्लास में शान और आराम में बैठना चाहते हैं, पर बैठ नहीं सकते और जो हम

चाहने पर भी नहीं कर सकते, उसे करने में समर्थ एक मनुष्य हमारे सामने है। फलस्वरूप हमारा अंतर्मन मान लेता है कि वह हमसे श्रेष्ठ है, बड़ा है।

इसी का दूसरा पहलू है। जैन मुनि विद्यानंद जी गरमी, सरदी, बरसात में नंगे रहते हैं, दिन-रात में एक समय भोजन करते हैं, वह भी सीमित रूप में। उनके दर्शन करने प्रतिदिन कई हज़ार आदमी आते हैं। आने वालों में किसी को घर का त्याग नहीं करना है, सबको अपने व्यापार-धंधे में लगे रहना है। फिर यह आकर्षण क्यों है? यह इसीलिए है कि त्याग का, ईश्वर-भक्ति का जो जीवन हम जीना चाहते हैं, पर मोह के कारण जी नहीं पाते, मुनि विद्यानंद जी वही जीवन जी रहे हैं। उनकी निकटता में हमारी आकांक्षा को भाषा और स्वरूप प्राप्त होते हैं।

इसी पृष्ठभूमि में मैं कहना चाहता हूँ कि लोक-जीवन का बल अपने शौर्य, पराक्रम या त्याग-बलिदान से प्रदीप्त व्यक्तियों का आदर्श है, वह जीवित रूप में हो या साहित्य, इतिहास के रूप में। बस, एक ही प्रश्न और — लोक की सर्वोत्तम, सर्वोच्च आकांक्षा क्या है? मेरा अनुभव कहता है कि लोक की मूल जीवन-वृत्ति है आनंद। आनंद पनपता है शांति में और शांति की लता पुष्पित होती है स्थिरता में। तो शांत जीवन ही लोक की सर्वोत्तम-सर्वोच्च आकांक्षा है। इसे हम उदाहरणों में आँके।

अंग्रेज़ों के आने के समय देश में पिण्डारियों का ज़ोर था। जो आदमी बहादुर और साधन-संपन्न होता, वह तो अपना राज्य स्थापित कर लेता था, पर जो बहादुर और चतुर होता,वह 10-20 दूसरे बहादुरों को अपने साथ लगा लेता और इस तरह एक लड़ाका टुकड़ी बन जाती। ये ही कहलाते थे पिण्डारी। जो राजा-सामंत आपस में लड़ते, वे पैसा और लूट में साझा देकर पिण्डारियों को साथ ले लेते। जब शांति होती, तो ये पिण्डारी स्वयं जनता को लूटते-मारते। जनता इनसे त्रस्त थी। अंग्रेज़ों ने शासन-सत्ता सँभालते ही एक झटके में पिण्डारियों को कुचल दिया। इससे जनता में

शांति-स्थिरता आई और उसने गुलाम हो जाने पर भी अंग्रेज़ी राज्य का स्वागत किया।

अंग्रेज़ी राज्य ने अपनी स्थिरता के लिए ज़मींदार, राजा, मुखिया, पटवारी का जाल बिछाया। ये भी प्रजा का शोषण करने लगे। इससे लोक-जीवन की शांति भंग हुई और वही जनता अंग्रेज़ों के विरुद्ध खड़ी हो गई।

इन सब कुछ का संक्षेप सार में कहें — शौर्य-त्याग-संपन्न नेता और शांत वातावरण लोक-जीवन का सार है। जो लोग विद्या या पूँजी के अहंकार में लोक को मूर्ख मानते हैं, उनका कोई भविष्य नहीं है। लोक ही देश के जीवन की कुंजी है, लोक का मंगल ही राष्ट्र का मंगल है।

प्रश्न अभ्यास

1. लोक को नहीं जानने की स्थिति में लोकतंत्र, लोकनीति और लोकमंगल की क्या दुर्दशा हो जाती है?
2. देश की जनसंख्या का एक छोटा-सा अंश महत्त्वपूर्ण न होकर भी किस प्रकार महत्त्वपूर्ण बन जाता है?
3. लोक का प्रशिक्षण पुस्तकों से नहीं परंपरा और संस्कारों से होता है। कैसे?
4. लेखक को लोकमत के स्वरूप का दर्शन और शक्ति का बोध कब और कैसे हुआ?
5. लोकमानस को अपने अनुकूल बनाने में गांधी जी और भगतसिंह के दृष्टिकोण में क्या अंतर था?
6. लेखक ने लोकजीवन की कुंजी का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध किसे बताया है?
7. हम दूसरे को अपने से श्रेष्ठ, शक्तिशाली और भाग्यवान् क्यों मानते हैं? अपने कथन की पुष्टि में लेखक ने क्या उदाहरण दिया है?
8. शांत जीवन को लोक की सर्वोच्च आकांक्षा क्यों माना गया है?
9. लोकजीवन का सार क्या है?



10. आशय स्पष्ट कीजिए :
   (क) लोक इस सहज ज्ञान से ही विवाद के समय निष्कर्ष पर पहुँचता है, जबकि शिक्षित सहारा लेता है तर्क-संगति का।
   (ख) लोक के मानस में भाव होते हैं, पर भाषा नहीं होती।
   (ग) आनंद पनपता है शांति में और शांति की लता पुष्पित होती है स्थिरता में।
11. इस पाठ से कम-से-कम तीन ऐसे सूत्र वाक्यों का चयन करें जिनका उपयोग आप सूक्ति के रूप में कर सकते हों।



रामधारी सिंह 'दिनकर'

(जन्म 1908 ई. मृत्यु 1974 ई.)

रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म बिहार राज्य के मुंगेर ज़िले के सिमरिया ग्राम में हुआ था। प्रतिष्ठा के साथ बी.ए. करने के बाद उन्होंने कुछ दिनों के लिए एक उच्च विद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य किया। उसके बाद वे प्रचार विभाग में अवर-निबंधक एवं उपनिदेशक के पदों पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद तक कार्यरत रहे। कुछ समय तक वे बिहार विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष भी रहे। 1952 ई. में वे भारतीय संसद के सदस्य निर्वाचित हुए। कुछ समय भागलपुर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति भी रहे। भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार के रूप में एक लंबे अरसे तक हिन्दी के संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार के लिए कार्य करते रहे। **संस्कृति के चार अध्याय** नामक उनकी पुस्तक पर साहित्य अकादमी पुरस्कार और **उर्वशी** पर ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। भारत सरकार ने उन्हें **पद्मभूषण** से सम्मानित किया।

'दिनकर' की प्रसिद्धि का मुख्य आधार उनका काव्य है और वे देश-विदेश में मुख्यतया कवि-रूप में प्रसिद्ध हैं। लेकिन वे गद्य लेखन में भी अप्रतिम रहे और अनेक अनमोल ग्रंथ लिखकर उन्होंने हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की। उनके गद्य में विषयों की विविधता और शैली की प्रांजलता के दर्शन सर्वत्र होते हैं। उनका गद्य काव्य की भाँति ही अत्यंत सजीव एवं स्फूर्तिमय है। उन्होंने काव्य, संस्कृति, सामाजिक जीवन आदि विषयों पर बहुत ही मर्मस्पर्शी लेख लिखे हैं। उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं :

काव्य–रेणुका, हुंकार, रसवंती, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, सामधेनी, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा, हारे को हरिनाम आदि।

गद्य – संस्कृति के चार अध्याय, मिट्टी की ओर, शुद्ध कविता की खोज, साहित्य

मुखी, काव्य की भूमिका, अर्द्धनारीश्वर, उजली आग, देश-विदेश आदि।

कबीर साहब से भेंट विषय, विधा और शैली तीनों ही दृष्टियों से विशिष्ट निबंध हैं। लेखक ने कुछ महत्त्वपूर्ण सामयिक प्रश्न उठाए हैं जिनके उत्तर के लिए उन्होंने कबीर साहब से अपेक्षा की है। उत्तर तो वे स्वयं प्रस्तुत करते हैं, किन्तु इस विशेष शैली को अपनाने से पाठ अत्यंत रोचक एवं ग्राह्य बन गया है। कबीर के मत के समर्थन में स्थान-स्थान पर उन्हीं की साखियों को उद्धृत करने से उसमें प्रामाणिकता आ गई है।

3

कबीर साहब से भेंट

कल्पना में एक दिन मेरी मुलाकात महात्मा कबीरदास से हुई और मैंने उनसे पूछा, ''महाराज, आप तो भक्त भी थे और समाज-सुधारक भी। किन्तु आज संसार में भक्ति का स्वर मद्धिम पड़ गया है और सर्वत्र समाज-सुधार की भावना प्रबल दिखाई देती है। लोक परलोक को छोड़कर लोक की समाराधना में लीन हैं। यह संसार के लिए अच्छा है या बुरा, कुछ ठीक से समझ में नहीं आता। बड़ी कृपा हो, यदि इस विषय में आप अपने विचार हमें जानने दें।''

कबीरदास बोले, ''भक्ति-साधना और समाज-सुधार ये परस्पर विरोधी काम नहीं हैं। मुख्य बात यह नहीं है कि तुम समाज-सेवी हो या भक्त। देखने की बात तो यह हो सकती है कि तुम समाज-सेवा या भक्ति किस भाव से करते हो। यदि तुम्हारी सेवा-भावना निष्काम है तो तुम समाज-सेवी होते हुए भी भक्त हो। इसके विपरीत, भक्त होने पर भी यदि वासना तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ती तो साधारण संसारी जीव हो—

जब लगि भगति सकाम है, तब लगि निष्फल सेव।

कह कबीर वह क्यों मिले निहकामी निज देव।

मैंने कहा, "महाराज, यह उत्तर तो अत्यंत संक्षिप्त हो गया। और सकाम-निष्काम वाली बात लाकर तो आपने और भी कठिनाई उत्पन्न कर दी है। उदाहरण के लिए, जो लोग आर्थिक विषमता मिटाकर समाज में समता लाना चाहते हैं, उनका कार्य निष्काम कैसे हो सकता है, स्पष्ट ही वे किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करते हैं।"

महात्मा बोले, "सभी मनुष्य सकाम नहीं होते। सकामता तो वहीं देखी जा सकती है जहाँ मनुष्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर काम करता है। जिसका उद्देश्य स्वार्थ नहीं है, परमार्थ अथवा परोपकार है, उसपर तुम सकाम होने का दोष नहीं दे सकते। और, विषमताएँ क्या मात्र आर्थिक हैं? उनसे कहीं विकराल विषमताएँ तो वे हैं जो निरे जन्म के आधार पर एक मनुष्य को उत्तम और दूसरे को अधम बताती हैं, एक को पूज्य और दूसरे को अस्पृश्य बताती हैं। जब तक यह दुर्ग नहीं टूटता, तब तक मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि जन्मना सभी मनुष्य समान हैं और सबको श्रेष्ठ एवं सुखी बनने का समान अधिकार है, तब तक समाज में फैली हुई विषमताओं का अंत नहीं होगा।"

मैंने निवेदन किया, "विषमता के मानसिक दुर्ग से आपका तात्पर्य क्या है महाराज?"

कबीर साहब बोले, "बहुत कुछ वही भाव जिसे तुम आज की भाषा में वर्ग-भावना कहते हो। धनी और निर्धन ये दो वर्ग तुम्हें दिखाई देते हैं किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि निर्धन होने पर भी ब्राह्मण और हरिजन परस्पर एकात्मकता का अनुभव नहीं कर पाते। ब्राह्मण आज भी यह सोच कर अपने को अंत्यजों से पृथक् रखता है कि वह जन्मना उनसे श्रेष्ठ है। समाज में समता लाने के पहले उस रूढ़ि को समूल विनष्ट करना है, उस परंपरा को निर्मूल बनाना है जो यह भाव जगाती है कि कर्म नहीं केवल जन्म

के आधार पर कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से श्रेष्ठ हो सकता है।"

मैंने दबी ज़बान से पूछा, "महाराज! क्या मैं यह समझूँ कि आप गांधी और मार्क्स के करीब से बोल रहे हैं?"

"राजनीति मेरा क्षेत्र नहीं है। किन्तु जहाँ तक संस्कार की बात है, मैं गांधी और मार्क्स की कई बातों को ठीक समझता हूँ। सामाजिक विषमताओं के मूल में मनुष्य का अहंकार निवास करता है। जाति का अहंकार, वंश का अहंकार, धन और शक्ति का अहंकार, सिद्धि और सफलता का अहंकार। ये सभी अहंकार विभाजक रेखाएँ हैं, जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करती हैं। गांधी ने इसी अहंकार का शमन करने के लिए यह परिपाटी चलाई थी कि सेवा का अधिकार उसी को मिल सकता है जो भंगी का काम भी उत्साह और प्रसन्नता के साथ कर सके। और इसी अहंकार को मारने के लिए मार्क्स ने कहा कि सेवा के पथ पर अग्रसर होने के पूर्व अपने मन को समझा दो कि तुम किसी भी व्यक्ति से किंचित भी श्रेष्ठ नहीं हो। जो काम मज़दूर करता है वह पंडितों के भी करने योग्य है और इसी अहंकार विसर्जन के लिए वैष्णव कवि ने "मो सम कौन कुटिल खल कामी" की अनुभूति प्राप्त की थी। जिसमें विनयशीलता नहीं, वह मनुष्य का कोई काम नहीं कर सकता। जिसमें सबका दास बनने की विनम्रता नहीं, वह किसी का भी स्वामी नहीं हो सकता—

कबिरा कुल तो सो भला, जेहि कुल उपजै दास।
जेहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास।

कबीर साहब की बात सुनकर क्षण भर मैं विचार-मग्न हो गया। मुझे लगा कि समाजवाद नया शब्द ज़रूर है, किन्तु उसकी तैयारी सदियों से होती आई है। कबीर ने जाति-प्रथा और वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार किया। मार्क्स धनतंत्र को ललकारने के जोश में धर्म के भी विरुद्ध हो गए। गांधी जी की व्यथा यह है कि धनतंत्र तो अवश्य टूटे, किन्तु धर्म फिर से अचल हो जाए।

किन्तु इस काम में कठिनाइयाँ कितनी हैं, अतएव मैंने आतुर होकर प्रश्न किया, ''किन्तु महाराज! आप जिस समाज की कल्पना करते हैं,वह तो संन्यासियों के समाज जैसा लगता है। तो क्या संन्यासी भी समाज चला सकते हैं?''

महात्मा बोले, ''चलाना ही होगा। और कोई उपाय नहीं है। मैं जिस समाज की कल्पना करता हूँ, उसमें गृहस्थ-संन्यासी और संन्यासी-गृहस्थ होंगे। अर्थात् संन्यास और गार्हस्थ्य के बीच वह दूरी नहीं रहेगी जो परंपरा से चलती आ रही है। मैं स्वयं गृहस्थ था, नानक गृहस्थ थे, बहुत प्राचीन काल में वशिष्ठादि अनेक ऋषि गृहस्थ हुए हैं। संन्यासी उत्तम कोटि का मनुष्य होता है, क्योंकि उसमें संचय की वृत्ति नहीं होती, लोभ और स्वार्थ नहीं होता। यही गुण गृहस्थ में भी होना चाहिए। और संन्यासी भी वही श्रेष्ठ है जो समाज के लिए कुछ काम करे। ज्ञान और कर्म को भिन्न करोगे तो समाज में विषमता उत्पन्न होगी ही। मुख में कविता और करघे पर हाथ, यह आदर्श मुझे बहुत पसंद था। और इसी की शिक्षा मैं दूसरों को भी देता हूँ। और तुमने सुना है या नहीं कि नानक ने एक अमीर लड़के के हाथ से पानी पीना अस्वीकार कर दिया था। लोगों ने कहा, ''गुरु जी, यह लड़का तो अत्यंत संभ्रांत वंश का है, इसके हाथ का पानी पीने में क्या दोष है?'' नानक बोले, ''तलहत्थी में मेहनत-मज़दूरी के निशान नहीं हैं। जिसके हाथ में मेहनत के ठेले नहीं होते, उसके हाथ का पानी पीने में मैं दोष मानता हूँ।'' नानक ठीक थे। श्रेष्ठ समाज वही है जिसके सदस्य ज्ञान और कर्म में से एक को श्रेष्ठ और दूसरे को अधम नहीं मानते। श्रेष्ठ समाज वह है जिसके सदस्य जी खोलकर श्रम करते हैं और, तब भी ज़रूरत से अधिक धन पर अधिकार जमाने की उनकी इच्छा नहीं होती—

उदर समाता अन्न लै, तनहिं समाता चीर।
अधिकहि संग्रह ना करै, ताको नाम फ़क़ीर।।

साधू सच्चा वही है, पेट समाता लेई।
आगे-पीछे हरि खड़े, जब माँगे तब देई।।
साँई इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय,
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।"

मैंने कहा, "बाबा, ये बातें तो बहुत दिनों से कही जा रही हैं, किन्तु संचय की ओर से मनुष्य की वृत्ति फिरती तो नहीं दिखाई देती। वह तो तभी फिरती है जब दबाव डाला जाता है।"

कबीर साहब बोले, "तो कौन कहता है कि दबाव मत डालो। दबाव केवल तलवार का ही नहीं, जनमत का भी होता है। तलवार के भय से साधुता धारण करने वाला व्यक्ति समाज का आदर्श सदस्य नहीं हो सकता। आदर्श मनुष्य तो वही हो सकता है जिसने स्वेच्छा से साधुत्व का वरण किया हो, स्वेच्छया संचय का त्याग किया हो। किन्तु एक बात याद रखो कि प्रवृत्ति की ज्वाला भड़काए रखने से मनुष्य संचय का त्याग नहीं करेगा। इसके लिए थोड़ी शिक्षा उसे निवृत्ति की भी मिलनी चाहिए। प्रवृत्ति इसलिए कि मनुष्य डटकर काम करे। निवृत्ति इसलिए कि अपनी कमाई पर वह अपना अधिकार न जमाए। प्रवृत्ति इसलिए कि कर्मठता जीवन का एकमात्र अवलंब है और निवृत्ति इसलिए कि एक दिन मनुष्य को सब कुछ यहीं छोड़कर अकेले जाना पड़ता है और उसकी चिता में रुपए पैसे नहीं, कुछ थोड़ी-सी सूखी लकड़ी ही जलती है–

चार जने मिलि खाट उठाए रोवत लै चले डगर-डगरिया।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, संग चली वा सूखी लकरिया।।

इसलिए आवश्यकता यह है कि ज़रूरत से अधिक जमा करने की व्यर्थता को समझें। और त्याग में क्या संचय से कम सुख है? केवल दृष्टि का भेद है।"

यहाँ आकर मैंने निवेदन किया, "अच्छा बाबा, ये बातें तो हो गईं अब धर्म के विषय में कुछ कहिए।"

कबीर साहब बोले, "इतनी देर क्या मैं धर्म छोड़कर किसी अन्य विषय की बात कहता रहा? ऐसा क्यों समझते हो कि धर्म केवल मंदिर और मस्ज़िद में बसता है तथा जुलाहे के करघा घर या मोची के मोचीखाने अथवा राजनीति के दफ्तर में वह नहीं रह सकता? जीवन के दो टुकड़े नहीं हैं कि एक में धर्म का आसन और दूसरे में छल और प्रपंच के लिए छूट रहे। जीवन का ऐसा विभाजन नहीं चल सकता। यह तो धर्म और अधर्म के बीच समझौते का उदाहरण होगा। धर्म संपूर्ण जीवन की पद्धति है। धर्म जीवन का स्वभाव है। ऐसा नहीं हो सकता कि हम कुछ कार्य तो धर्म की मौजूदगी में करें और बाक़ी कार्यों के समय उसे भूल जाएँ। धर्म ज्ञान और विश्वास में नहीं, कर्म और आचरण में बसता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं तो इस विश्वास का सबूत हमारे आचरणों में मिलना ही चाहिए। पूजा और अनुष्ठान की विधियाँ धर्मरूप हैं। मंदिर, मस्ज़िद, तीर्थव्रत और पंडे तथा पुरोहित की प्रथा, ये धर्म के ढकोसले हैं। सच पूछो तो सभी धर्म एक हैं। केवल पूजा-विधियों के कारण वे भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। इसलिए कहता हूँ कि पूजा-विधियों को छोड़ दो और सभी धर्मों को एक हो जाने दो। सभी धर्म एक हैं। एक से अधिक वे हो ही नहीं सकते।

तुम्हारे नये कवि रवीन्द्रनाथ ने तुमसे ठीक कहा था, "धर्म को पकड़े रहो। धर्मों को छोड़ दो।" और धर्म केवल जुमे या मंगलवार को ही नहीं जगता, वह सातों दिन जगा रहता है। उसकी साधना का स्थान मंदिर और मस्ज़िद ही नहीं, बल्कि वे सारी जगहें हैं, जहाँ मनुष्य कोई काम करता है।"

प्रश्न-अभ्यास

1. लेखक ने अपनी बातों की अभिव्यक्ति का माध्यम कबीर साहब को क्यों बनाया? सही विकल्प पर निशान लगाइए :

(क) भारतीय इतिहास में कबीर साहब का व्यक्तित्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प रहा है।
(ख) स्वप्न में एक दिन कबीर साहब से लेखक की भेंट हो गई थी।
(ग) कबीर साहब द्वारा कही गई बात लोगों को अधिक प्रभावित करेगी।
(घ) निबंध में उठाए गए प्रश्नों का कबीर के जीवन-दर्शन से सीधा संबंध है।
(ङ) काल्पनिक साक्षात्कार प्रस्तुति अपनाने से मुख्य कथ्य प्रभावशाली और विश्वसनीय बन गया है।

2. लेखक ने किन विषमताओं को आर्थिक विषमताओं से अधिक विकराल माना है? क्यों?
3. अहंकार का जन्म किन कारणों से होता है, इससे क्या हानियाँ होती हैं? गांधी और मार्क्स ने अहंकार शमन के लिए क्या-क्या उपाय बताए हैं?
4. ''ज्ञान और कर्म को भिन्न करोगे तो समाज में विषमता उत्पन्न होगी ही।'' बुद्धिजीवी वर्ग और मज़दूर वर्ग को अपनी दृष्टि में रखकर इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. प्रवृत्ति और निवृत्ति से आप क्या समझते हैं? लेखक ने दोनों को हमारे जीवन के लिए अपरिहार्य क्यों बताया है?
6. निर्धन होने पर भी ब्राह्मण और हरिजन परस्पर एकात्मकता अनुभव क्यों नहीं कर पाते हैं?
7. आशय स्पष्ट कीजिए :
   (क) जिसका उद्देश्य स्वार्थ नहीं है, परमार्थ अथवा परोपकार है उस पर तुम सकाम होने का दोष नहीं दे सकते।
   (ख) सामाजिक विषमताओं के मूल में मनुष्य का अहंकार निवास करता है।
   (ग) धर्म को पकड़े रहो। धर्मों को छोड़ दो।
8. ''मार्क्स धनतंत्र को ललकारने के जोश से धर्म के भी विरुद्ध हो गए — गांधी की व्यथा यह है कि धनतंत्र तो अवश्य टूटे किन्तु धर्म फिर से अचल हो जाए।'' उपर्युक्त कथनों के विरोध को स्पष्ट करते हुए अपना पक्ष प्रस्तुत कीजिए।
9. कबीर साहब के कथनों और लेखक के कथनों की भाषा में जो स्पष्ट अंतर है, उसे उद्घाटित कीजिए।

10. इस पाठ में भाववाचक संज्ञाओं का प्राचुर्य है, क्यों? किसी एक अनुच्छेद की भाववाचक संज्ञाओं का चयन कीजिए।
11. तुलसीदास अथवा पूर्वकालीन किसी अन्य महापुरुष से भेंट की कल्पना करते हुए एक साक्षात्कार लिखिए।

काल्पनिक साक्षात्कार के नमूने के लिए यह पुस्तक पढ़िए – एंटनी चेखव : एक इंटरव्यू। लेखक - राजेन्द्र यादव।



जैनेन्द्र कुमार

(जन्म 1905 ई. मृत्यु 1988 ई.)

जैनेन्द्र कुमार का जन्म अलीगढ़ ज़िले के कौड़ियागंज नामक कस्बे में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा हस्तिनापुर के जैन गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम में हुई। 1919 ई. में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके उपरांत उच्च्व शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। सन् 1921 में गांधी जी के असहयोग- आंदोलन में भाग लेने के कारण उनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। कुछ राजनीतिक पत्रिकाओं का संपादन करने के कारण उन्हें जेल-यात्रा भी करनी पड़ी।

जैनेन्द्र प्रेमचंदोत्तर युग से श्रेष्ठ कथाकार के रूप में जाने जाते हैं। अपने कहानी-संग्रहों एवं उपन्यासों में उन्होंने पात्रों के आंतरिक एवं बाह्य रूप को मनोविश्लेषणात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। धर्म, दर्शन, कला, मनोविज्ञान, समाज, राष्ट्र, राजनीति, संस्कृति आदि अनेक पक्षों पर उन्होंने ठोस विचार व्यक्त किए हैं। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी है। उन्होंने गांधीवाद की भौतिक व्याख्या की है।

एक रात, फाँसी, नीलमदेश की राजकन्या, दो चिड़ियाँ, पाज़ेब, कथामाला, ध्रुव यात्रा, स्पर्धा, भाभी, घुँघरू, टकराहट उनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं।

परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, विवर्त, सुखदा, व्यतीत, जयवर्धन और मुक्तिबोध, अनंतर, अनामस्वामी, दशार्क उनके उपन्यास हैं।

प्रस्तुत प्रश्न, जड़ की बात, सोच-विचार, काम, प्रेम और परिवार तथा गांधी नीति उनके निबंध-संग्रह हैं तथा ये और वे संस्मरण हैं।

उनके निबंधों की भाषा मूलत: चिन्तन की भाषा है। उनके विचारों में कहीं-कहीं उलझाव आ जाता है। विचारों के गांभीर्य एवं विषय की जटिलता के कारण भाषा में

क्लिष्टता एवं दुरुहता भी आ जाती है। उनकी कहानियों की भाषा सरल और स्वाभाविक है।

इस निबंध में लेखक ने बताया है कि बाज़ार का सच्चा उपयोग क्या है। उदाहरण देकर उन्होंने यह भी बताया कि किन कारणों से हम उसका दुरुपयोग करते हैं। अधिकाधिक संग्रह की प्रवृत्ति व्यक्ति को दुखी ही करती है। इस पाठ में अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग खटकते नहीं, बल्कि पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं और शब्द चयन के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण को रेखांकित करते हैं।

4

बाज़ार-दर्शन

एक बार की बात कहता हूँ। मित्र बाज़ार गए तो थे कोई एक मामूली चीज़ लेने, पर लौटे तो एकदम बहुत-से बंडल पास थे।

मैंने कहा – यह क्या?

बोले – यह जो साथ थीं।

उनका आशय था कि यह पत्नी की महिमा है। उस महिमा का मैं कायल हूँ। आदिकाल से इस विषय में पति से पत्नी की ही प्रमुखता प्रमाणित है। और यह व्यक्तित्व का प्रश्न नहीं, स्त्रीत्व का प्रश्न है। स्त्री माया न जोड़े तो क्या मैं जोड़ूँ? फिर भी सच-सच है और वह यह कि इस बात में पत्नी की ओट ली जाती है। मूल में एक और तत्त्व की महिमा सविशेष है। यह तत्त्व है मनीबैग, अर्थात् पैसे की गरमी या एनर्जी।

पैसा पावर है। पर उसके सबूत में आस-पास माल-टाल न जमा हो तो क्या वह खाक पावर है। पैसे को देखने के लिए बैंक-हिसाब देखिए, पर माल-असबाब, मकान-कोठी तो अनदेखे भी दीखते हैं। पैसे की उस 'पर्चेजिंग पॉवर' के प्रयोग में ही पावर का रहस्य है।

लेकिन यही नहीं। लोग संयमी भी होते हैं। वे फिज़ूल सामान को फ़िज़ूल समझते हैं। वे पैसा बहाते नहीं हैं और बुद्धिमान होते हैं। बुद्धि और संयमपूर्वक वह पैसे को जोड़ते जाते हैं, जोड़ते जाते हैं। वह पैसे की पावर को इतना निश्चय समझते हैं कि उसके प्रयोग की परीक्षा उन्हें दरकार नहीं है। बस, खुद पैसे के जुड़ा होने पर उनका मन गर्व से भरा-फूला रहता है।

मैंने कहा – यह कितना सामान ले आए!

मित्र ने सामने मनीबैग फैला दिया, कहा – यह देखिए। सब उड़ गया, अब तो रेल-टिकट के लिए ही शायद बचा हो!

मैंने तब तय माना कि और पैसा होता तो और सामान आता। वह सामान ज़रूरत की तरफ़ देखकर नहीं आया, अपनी 'पर्चेजिंग पावर' के अनुपात में आया है।

लेकिन ठहरिए। इस सिलसिले में एक और भी महत्त्व का तत्त्व है, जिसे नहीं भूलना चाहिए, उसका भी इस करतब में बहुत-कुछ हाथ है। वह महत्त्व है, बाज़ार।

मैंने कहा – यह इतना कुछ नाहक ले आए!

मित्र बोले – कुछ न पूछो। बाज़ार है कि शैतान का जाल है। ऐसा सजा-सजाकर माल रखते हैं कि बेहया ही हो जो न फँसे।

मैंने मन में कहा, ठीक बाज़ार आमंत्रित करता है कि आओ मुझे लूटो और लूटो। सब भूल जाओ और मुझे देखो। मेरा रूप और किसके लिए है? मैं तुम्हारे लिए हूँ। नहीं कुछ चाहते हो, तो भी देखने में क्या हरज है? अजी आओ भी।

इस आमंत्रण में यह खूबी है कि आग्रह नहीं है। आग्रह तिरस्कार जगाता है। लेकिन ऊँचे बाज़ार का आमंत्रण मूक होता है और उससे चाह जगती है। चाह मतलब अभाव। चौक बाज़ार में खड़े होकर आदमी को लगने लगता है कि अपने पास काफ़ी नहीं है, और चाहिए, और चाहिए। मेरे

यहाँ कितना परिमित है और यहाँ कितना अतुलित है। ओह!

कोई अपने को न जाने तो बाज़ार का यह चौक उसे कामना से विकल बना छोड़े, विकल क्यों पागल! असंतोष, तृष्णा और ईर्ष्या के घायल मनुष्य को सदा के लिए बेकार बना डाल सकता है।

एक और मित्र की बात है। वह दोपहर के पहले के गए-गए बाज़ार से कहीं शाम को वापस आए। आए तो खाली हाथ।

मैंने पूछा — कहाँ रहे?

बोले — बाज़ार देखते रहे।

मैंने कहा — बाज़ार को देखते क्या रहे?

बोले — क्यों? बाज़ार —

तब मैंने कहा — लाए तो कुछ नहीं।

बोले — हाँ। पर यह समझ में न आता था कि न लूँ तो क्या? सभी कुछ तो लेने को जी होता था। कुछ लेने का मतलब था शेष सब कुछ को छोड़ देना। पर मैं कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता था। इससे मैं कुछ भी नहीं ले सका।

मैंने कहा — खूब!

पर मित्र की बात ठीक थी। अगर ठीक पता नहीं है कि क्या चाहते हो तो सब ओर की चाह तुम्हें घेर लेगी और तब परिणाम त्रास ही होगा, गति नहीं होगी, न कर्म।

बाज़ार में एक जादू है। वह जादू आँख की राह काम करता है। वह रूप का जादू है।

पर जैसे चुंबक का जादू लोहे पर ही चलता है, वैसे ही इस जादू की भी मर्यादा है। जेब भरी हो, जेब खाली पर मन भरा न हो, तो भी जादू चल जाएगा। मन खाली है तो बाज़ार की अनेकानेक चीज़ों का निमंत्रण उस तक पहुँच जाएगा। कहीं हुई उस वक़्त जेब भरी तब तो फिर मन किसकी

माननेवाला है? मालूम होता है यह भी लूँ, वह भी लूँ। सभी सामान ज़रूरी और आराम को बढ़ाने वाला मालूम होता है। पर यह सब जादू का असर है। जादू की सवारी उतरी कि पता चलता है कि फैन्सी चीज़ों की बहुतायत आराम में मदद नहीं देती, बल्कि खलल ही डालती है। थोड़ी देर को स्वाभिमान को ज़रूर सेंक मिल जाता है। पर इससे अभिमान की गिल्टी को और खुराक ही मिलती है। जकड़ रेशमी डोरी की हो तो रेशम के स्पर्श के मुलायम होने के कारण क्या वह कम जकड़ होगी?

पर उस जादू की जकड़ से बचने का एक सीधा-सा उपाय है। वह यह कि बाज़ार जाओ तो पहले मन खाली न हो। मन खाली हो, तब बाज़ार न जाओ। कहते हैं लू में जाना हो तो पानी पीकर जाना चाहिए। पानी भीतर हो तो लू का लू-पन व्यर्थ हो जाता है। मन लक्ष्य में भरा हो तो बाज़ार भी फैला का फैला ही रह जाएगा। तब वह घाव बिल्कुल नहीं दे सकेगा, बल्कि कुछ आनंद ही देगा। तब बाज़ार तुमसे कृतार्थ होगा, क्योंकि तुम कुछ-न-कुछ सच्चा लाभ उसे दोगे। बाज़ार की असली कृतार्थता है आवश्यकता के समय काम आना।

यहाँ एक अंतर चीन्ह लेना बहुत ज़रूरी है। मन खाली नहीं रहना चाहिए इसका मतलब यह नहीं कि मन बंद रहना चाहिए। जो बंद हो जाएगा, वह शून्य हो जाएगा। शून्य होने का अधिकार परमात्मा का है, जो सनातन भाव से संपूर्ण है। शेष सब अपूर्ण है। इससे मन बंद नहीं रह सकता। सब इच्छाओं का विरोध कर लोगे, यह झूठ है और अगर "इच्छा निषेधस्तपः" का ऐसा ही नकारात्मक अर्थ हो तो वह तप झूठ है। वैसे तप की राह रेगिस्तान को जाती होगी, मोक्ष की राह वह नहीं है। डाट देकर मन को बंद कर रखना पड़ता है। लोभ का यह जीतना नहीं है कि जहाँ लोभ होता है, यानी मन में, वहाँ विकार हो। यह तो लोभ की ही जीत है और आदमी की हार। आँख अपनी फोड़ डाली, तब लोभनीय के दर्शन से बचे तो क्या हुआ?

ऐसे क्या लोभ मिट जाएगा? और कौन कहता है कि आँख फूटने पर रूप देखना बंद हो जाएगा? क्या आँख बंद करके ही हम सपने नहीं लेते हैं और वे सपने क्या चैन भंग नहीं करते हैं? इससे मन को बंद कर डालने की कोशिश तो अच्छी नहीं। वह अकारथ है। यह तो हठवाला योग है। शायद हठ-ही-हठ है, योग नहीं है। इससे मन कृश भले हो जाए और पीला और अशक्त जैसे विद्वान का ज्ञान। वह मुक्त ऐसे नहीं होता। इससे वह व्यापक की जगह संकीर्ण और विराट की जगह क्षुद्र होता है। इसलिए उसका रोम-रोम मूँदकर मन को बंद तो करना नहीं चाहिए। वह मन पूर्ण कब है? हमसे पूर्णता होती तो परमात्मा से अभिन्न हम भी शून्य ही न होते। अपूर्ण हैं, इसी से हम हैं। सच्चा ज्ञान इसी अपूर्णता के बोध को हममें गहरा करता है। सच्चा कर्म सदा इसी अपूर्णता की स्वीकृति के साथ होता है। अतः उपाय कोई वही हो सकता है जो बलात् मन को रोकने को न कहे, जो मन की भी इसलिए सुने क्योंकि वह अप्रयोजनीय रूप में हमें नहीं प्राप्त हुआ है। हाँ, मनमाने की छूट मन को न हो, क्योंकि वह अखिल का अंग है, ख़ुद कुल नहीं है।

पड़ोस में एक महानुभाव रहते हैं जिनको लोग भगत जी कहते हैं। चूरन बेचते हैं। यह काम करते जाने उन्हें कितने वर्ष हो गए हैं। लेकिन किसी एक भी दिन चूरन से उन्होंने छह आने पैसे से ज़्यादा नहीं कमाए। चूरन उनका आसपास सरनाम है। और ख़ुद खूब लोकप्रिय हैं। कहीं व्यवसाय का गुर पकड़ लेते और उसपर चलते तो आज खुशहाल क्या मालामाल होते! क्या कुछ उनके पास न होता! इधर दस वर्षों से मैं देख रहा हूँ, उनका चूरन हाथों-हाथ बिक जाता है। पर वह न उसे थोक देते हैं, न व्यापारियों को बेचते हैं। पेशगी-आर्डर कोई नहीं लेते। बँधे वक़्त पर अपनी चूरन की पेटी लेकर घर से बाहर हुए नहीं कि देखते-देखते छह आने की कमाई उनकी हो जाती है। लोग उनका चूरन लेने को उत्सुक जो रहते

हैं। चूरन से भी अधिक शायद वह भगत जी के प्रति अपनी सद्भावना का देय देने को उत्सुक रहते हैं। पर छह आने पूरे हुए नहीं कि भगत जी बाकी चूरन बालकों को मुफ़्त बाँट देते हैं। कभी ऐसा नहीं हुआ कि कोई उन्हें पच्चीसवाँ पैसा भी दे सके। कभी चूरन में लापरवाही नहीं हुई है, और कभी रोगी होता भी मैंने उन्हें नहीं देखा है।

और तो नहीं, लेकिन इतना मुझे निश्चय मालूम होता है कि इन चूरनवाले भगत जी पर बाज़ार का जादू नहीं चल सकता।

कहीं आप भूल न कर बैठिएगा। इन पंक्तियों को लिखने वाला मैं चूरन नहीं बेचता हूँ। जी नहीं, ऐसी हलकी बात भी न सोचिएगा। यह समझिएगा कि लेख के किसी भी मान्य पाठक से उस चूरनवाले को श्रेष्ठ बताने की मैं हिम्मत कर सकता हूँ। क्या जाने उस भोले आदमी को अक्षरज्ञान तक भी है या नहीं। और बड़ी बातें तो उसे मालूम क्या होंगी? और हम-आप न जाने कितनी बड़ी-बड़ी बातें जानते हैं। इससे यह तो हो सकता है कि वह चूरनवाला भगत हम लोगों के सामने एकदम नाचीज़ आदमी हो। लेकिन आप पाठकों की विद्वान् श्रेणी का सदस्य होकर भी मैं यह स्वीकार करना नहीं चाहता हूँ कि उस अपदार्थ प्राणी को वह प्राप्त है जो हममें से कम को शायद प्राप्त है। उस पर बाज़ार का जादू वार नहीं कर पाता। माल बिछा रहता है, और उसका मन अडिग रहता है। पैसा उसके आगे होकर भीख तक माँगता है कि मुझे लो। लेकिन उसके मन में पैसे पर दया नहीं समाती। वह निर्मम व्यक्ति पैसे को अपने आहत गर्व से बिलखता ही छोड़ देता है। ऐसे आदमी के आगे क्या पैसे की व्यंगशक्ति कुछ भी चलती होगी? क्या वह शक्ति कुंठित रहकर सलज्ज ही न हो जाती होगी?

पैसे की व्यंगशक्ति को सुनिए। वह दारुण है। मैं पैदल चल रहा हूँ कि पास ही धूल उड़ाती हुई निकल गई मोटर। वह क्या निकली मेरे कलेजे को कौंधती एक व्यंग की लीक ही आर-पार हो गई। जैसे किसी ने आँखों में

उँगली देकर दिखा दिया हो कि देखो, उसका नाम है, मोटर और तुम उससे वंचित हो। यह मुझे अपनी ऐसी विडंबना मालूम होती है कि बस पूछिए नहीं। मैं सोचने को हो आता हूँ कि हाय, ये ही माँ-बाप रह गए थे जिनके यहाँ मैं जन्म लेने को था। क्यों न मोटर वालों के यहाँ हुआ। उस व्यंग में इतनी शक्ति है कि ज़रा में मुझे अपने सगों के प्रति कृतघ्न कर सकती है।

लेकिन क्या लोक-वैभव की यह व्यंग-शक्ति उस चूरनवाले अकिंचित्कर मनुष्य के आगे चूर-चूर होकर ही नहीं रह जाती? चूर-चूर क्यों, कहो पानी-पानी।

तो वह क्या बल है जो तीखे व्यंग के आगे अजेय ही नहीं रहता, बल्कि मानो इस व्यंग की क्रूरता को ही पिघला देता है?

उस बल को नाम जो दो, पर वह निश्चय उस तल की वस्तु नहीं है, जहाँ पर संसारी वैभव फूलता-फलता है। वह कुछ अपर जाति का तत्त्व है। लोग "स्परिचुअल" कहते हैं, आत्मिक, धार्मिक, नैतिक कहते हैं। मुझे योग्यता नहीं कि मैं उन शब्दों में अंतर देखूँ और प्रतिपादन करूँ। मुझे शब्द से सरोकार नहीं। मैं विद्वान् नहीं कि शब्दों पर अटकूँ। लेकिन इतना तो है कि जहाँ तृष्णा है, बटोर रखने की स्पृहा है, वहाँ उस बल का बीज नहीं है। बल्कि यदि उसी बल को सच्चा बल मानकर बात की जाए तो कहना होगा कि संचय की तृष्णा और वैभव की चाह में व्यक्ति की निर्बलता ही प्रमाणित होती है। निर्बल ही धन की ओर झुकता है। वह अबलता है। वह मनुष्य पर धन की और चेतन पर जड़ की विजय है।

एक बार चूरनवाले भगत जी बाज़ार चौक में दीख गए। मुझे देखते ही उन्होंने जय-जयराम किया। मैंने भी जयराम कहा। उनकी आँखें बंद नहीं थीं और न उस समय वे वह बाज़ार को कोस रहे मालूम होते थे। राह में बहुत लोग, बहुत बालक मिले जो भगत जी द्वारा पहचाने जाने के इच्छुक थे। भगत जी ने सबको ही हँसकर पहचाना। सबका अभिवादन लिया और

सबको अभिवादन दिया। इससे तनिक भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि चौक बाज़ार में होकर उनकी आँखें किसी से कम खुली थीं। लेकिन भौचक्के हो रहने की लाचारी उन्हें नहीं थी। व्यवहार में पशोपेश उन्हें नहीं था और खोए से खड़े नहीं रह जाते थे। भाँति-भाँति के बढ़िया माल से चौक भरा पड़ा है। उसके प्रति अप्रीति इस भगत के मन में नहीं है। जैसे उस समूचे माल के प्रति भी उनके मन में आशीर्वाद हो सकता है। विद्रोह नहीं, प्रसन्नता ही भीतर है, क्योंकि कोई रिक्ति भीतर नहीं है। देखता हूँ कि खुली आँख, तुष्ट और मग्न, वह चौक बाज़ार में से चलते चले जाते हैं। राह में बड़े-बड़े फैन्सी स्टोर पड़ते हैं, पर पड़े रह जाते हैं। कहीं भगत नहीं रुकते है। रुकते हैं तो एक छोटी पंसारी की दुकान पर, वहाँ दो-चार अपने काम की चीज़ें लीं और चले जाते हैं। बाज़ार से हठपूर्वक विमुखता उनमें नहीं है, लेकिन अगर उन्हें जीरा और काला नमक चाहिए तो सारे चौक बाज़ार की सत्ता उनके लिए तभी तक है, तभी तक उपयोगी है, जब तक वहाँ जीरा मिलता है। ज़रूरत भर जीरा वहाँ से ले लिया कि फिर सारा चौक उनके लिए आसानी से नहीं के बराबर हो जाता है। वह जानते हैं कि उन्हें जो चाहिए वह है जीरा-नमक। बस, इस निश्चित प्रतिदिन के बल पर शेष सब चाँदनी चौक का आमंत्रण उन पर व्यर्थ होकर बिखर जाता है। चौक की चाँदनी दायें-बायें भूखी-की-भूखी फैली रह जाती है, क्योंकि भगत जी को जीरा चाहिए। वह तो कोने वाली पंसारी की दुकान से मिल जाता है और वहाँ से सहज भाव में ले लिया गया है। इसके आगे आस-पास यदि चाँदनी बिछी रहती है, बड़ी खुशी से बिछी रहे, भगत जी उस बेचारी का कल्याण ही चाहते हैं।

यहाँ मुझे ज्ञात होता है कि बाज़ार को सार्थकता भी वही मनुष्य देता है जो जानता है कि वह क्या चाहता है। और जो नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, अपनी पर्चेजिंग पावर के गर्व में अपने पैसे से केवल एक विनाशक शक्ति, शैतानी व्यंग, व्यंग की शक्ति ही बाज़ार को देते हैं। न तो वे बाज़ार

से लाभ उठा सकते हैं, न उस बाज़ार को सच्चा लाभ दे सकते हैं। वे लोग बाज़ार का बाज़ारूपन बढ़ाते हैं, जिसका मतलब है कि कपट बढ़ाते हैं। कपट की बढ़ती का अर्थ परस्पर में सद्भाव की घटी। इस सद्भाव के ह्रास पर आदमी आपस में भाई-भाई और सुहृद और पड़ोसी फिर रह ही नहीं जाते और आपस में कोरे ग्राहक और बेचक की तरह व्यवहार करते हैं। मानो दोनों एक दूसरे को ठगने की घात में हों। एक की हानि में दूसरे को अपना लाभ दीखता है और यह बाज़ार का, बल्कि इतिहास का, सत्य माना जाता है। ऐसे बाज़ार को बीच में लेकर लोगों में आवश्यकताओं का आदान-प्रदान नहीं होता, बल्कि शोषण होने लगता है। तब कपट सफल होता है, निष्कपट शिकार होता है। ऐसा बाज़ार मानवता के लिए विडंबना है। और जो ऐसे बाज़ार का पोषण करता है, जो उसका शास्त्र बना हुआ है, वह अर्थशास्त्र सरासर औंधा है। मायावी 'कैपिटलिस्टिक' शास्त्र है। वह अर्थशास्त्र अनीति-शास्त्र है।

प्रश्न-अभ्यास

1. लेखक की दृष्टि में बाज़ार का मूल दर्शन क्या है?
   (क) अपनी 'पर्चेजिंग पावर' के अनुसार ख़रीदना।
   (ख) बाज़ार की आकर्षक लगनेवाली सभी वस्तुओं का संग्रह करना।
   (ग) बाज़ार भाव कर उतार-चढ़ाव बताना।
   (घ) आवश्यकता भर ख़रीदना और आवश्यकता भर बेचना।
2. ''लेखक के एक मित्र बाज़ार गए तो ढेर-सा सामान ख़रीद लाए, दूसरे मित्र पूरे दिन बाज़ार में रहकर भी खाली हाथ लौट आए।'' दोनों के व्यवहार और सोचने के अंतर को स्पष्ट कीजिए।
3. ''मन खाली नहीं रहना चाहिए'' खाली मन होने से लेखक का क्या अभिप्राय: है? क्रय-विक्रय पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है?

4. सभी पर बाज़ार का जादू क्यों नहीं चल सकता है, भगतजी का उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।
5. पैसे की व्यंगशक्ति एक साधारण जन को किस प्रकार चूर-चूर करती है और किनके सामने वह चूर-चूर हो जाती है?
6. लेखक ने किस बाज़ार को मानवता के लिए विडंबना कहा है और क्यों?
7. आशय स्पष्ट कीजिए :
   (क) कोई अपने को न जाने तो.................बेकार बना डाल सकता है।
   (ख) संचय की तृष्णा और वैभव की चाह............प्रमाणित होती है।
   (ग) चाँदनी चौक का आमंत्रण उनपर व्यर्थ होकर बिखर जाता है।
8. 'कैपिटलिस्टिक' अर्थशास्त्र को लेखक ने किन आधारों पर मायावी एवं अनीतिपूर्ण कहा है?
9. पाठ में आए निम्नांकित मुहावरों का अर्थ बताइए और उनका वाक्यों में प्रयोग कीजिए–
   ओट लेना, पैसे की गरमी, पैसा बहाना, पैसा जोड़ना, शैतान का जाल, ऊँचा बाज़ार, रूप का जादू।
10. लेखक ने किस उद्देश्य से अंग्रेज़ी शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है? इसका औचित्य सिद्ध कीजिए।
11. जैनेन्द्र जी की भाषा-शैली में एक वक्रता होती है। इस पाठ से कुछ उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

□□

माखनलाल चतुर्वेदी

(जन्म 1889 ई. मृत्यु 1968 ई.)

माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में बाबई ग्राम में हुआ। मिडिल के बाद उन्होंने नार्मल की परीक्षा उत्तीर्ण की और 1904 ई. में खंडवा के मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गए। अध्यापन-काल में उन्होंने हिन्दी, संस्कृत, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी की अनेक पुस्तकों का अध्ययन-मनन किया। 1906 ई. में क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हो गए और अध्यापक के पद से त्यागपत्र दे दिया। 1913 ई. में उन्होंने **प्रभा** नामक मासिक पत्रिका का संपादन प्रारंभ किया। इन्हीं दिनों उनका संपर्क गणेश शंकर विद्यार्थी से हुआ। महात्मा गांधी एवं विद्यार्थी जी का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे **एक भारतीय आत्मा** उपनाम से ओजपूर्ण राष्ट्रीय कविताएँ लिखने लगे। 1919 ई. में प्रसिद्ध पत्रकार माधवराव सप्रे के सहयोग से उन्होंने **कर्मवीर** साप्ताहिक का संपादन-प्रकाशन आरंभ किया। 1921-22 ई. के असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण उन्हें राजद्रोह के अपराध में कारावास का दंड मिला। 1924 ई. में गणेश शंकर विद्यार्थी की गिरफ्तारी पर कानपुर जाकर उन्होंने दैनिक **प्रताप** का संपादन किया। चतुर्वेदी जी को उनकी साहित्य-सेवा के लिए विश्वविद्यालय ने डी.लिट. की मानद उपाधि से सम्मानित किया और 1963 ई. में भारत सरकार ने उन्हें **पद्मभूषण** की उपाधि से विभूषित किया।

चतुर्वेदी जी मूलतः राष्ट्रीय भावनाओं के कवि हैं। किन्तु साथ ही उन्होंने अनेक भावात्मक और विचारात्मक निबंधों की भी रचना की है। अनुभूति की प्रत्यक्षता, भावावेग, भाषा की लाक्षणिकता, चित्र शैली आदि के कारण उनके निबंधों में उनके कवि-रूप की झलक अनायास मिल जाती है। दूसरे शब्दों में उनके निबंधों में भावुकता,

सहज चिन्तन और रागमयी भाषा का मणिकांचन संयोग मिलता है। **अमीर इरादे: गरीब इरादे** तथा **रंगों की बोली** में संकलित निबंधों में इन विशेषताओं को देखा जा सकता है। उनकी सभी रचनाएँ माखनलाल चतुर्वेदी ग्रंथावली के नाम से प्रकाशित है।

सुभाष मानव : सुभाष महामानव मानपत्र की शैली में लिखा संस्मरण है जिसकी प्रस्तुति भावात्मक एवं काव्यात्मक है। लेखक ने एक–एक अनुच्छेद में नेताजी के जीवन की एक–एक महत्वपूर्ण घटना को संकेत रूप में अंकित किया है जिनसे उनके चारित्रिक गुण और वैयक्तिक विशेषताएँ स्वतः स्पष्ट हो गई हैं। इसके वाक्य–विन्यास और शब्द प्रयोग विशिष्ट हैं, प्रभावी हैं, काव्यात्मकता से भरपूर है, जैसे –

–तुम बलिपंथी; तुम रक्त–क्रांति के होता, तुम सेनानी, तुम सिपहसलार

–बड़े महँगे मोलों की थी तुम्हारी यह मनमोहनीकरण–न्योतनी मस्ती!

5

सुभाष [illegible] : सुभाष महामानव

जब तुम भारत से गए, लोग कहते थे, तुम बीमार हो, घर से बाहर नहीं निकल सकते, और तुम थे, कि घर से क्या, देश से भी बाहर चले गए। गरज यह कि, रहस्य सोचा अरविन्द ने, रहस्य काव्य बनाकर लिखा रवीन्द्र ने और रहस्य अवतरित हुआ तुम्हारे रूप में।

तुम जब युद्ध से लौटे, लोगों ने सोचा, तुम अमरीका और इंग्लैण्ड से घिर जाओगे, बंदी होगे, तुमपर मुकदमा चलेगा, दंड दिया जाएगा। हिरोहितो, हिटलर, पेताँ और तुम डबल मार्च में एक साथ थे। सर्वनाश में, मित्र राष्ट्रों की सूलियों पर, अलग-अलग तिथियों में भले होओ, किन्तु भाग्य, परिणाम, दंड और यात्रा, ये एक ही होंगे।

किन्तु फिर तुम्हारा विमान चला, अपने सिपाहियों से विदा लेकर, किसी अज्ञात लोक को; लोगों ने कहा कि वह विमान गिर पड़ा, विमान टूट गया, तुम गिर गए, तुम अज्ञात लोक के यात्री अनंत लोक के यात्रा-पंथी हो गए। तुम्हारी मृत्यु पर कुछ के जी में काँटा चुभ गया, कुछ के जी से काँटा निकल गया, किन्तु तुम्हारी मौत पर देशवासियों ने विश्वास नहीं किया, वे

सोचते रहे, और सोचते रहते हैं कि "किसी दिन, किसी देश में, किसी वेश में, तुम ज़रूर मिलोगे।" किन्तु तुम तो 'रहस्य' हो न? जीवन में, मरण में तुम्हारा स्वभाव कैसे बदलेगा? एक बात सच है, भारत का भाग्य बने, भारत का भाग्य बिगड़े, तुम अब उस निर्माण के हिस्सेदार नहीं हो सकते।

तुम दुनिया से हटे या न हटे, विश्वगति के परदे से हट गए। कैसे कठोर निर्णय हो रहे हैं, आँसुओं को हँसते, मृत्यु को मुसकराते और निर्माणों में भूकंप आते जगत् देख रहा है।

तुम लोगों के मन पर हो, जीवन पर छाए हो, क्योंकि तुमने भारतीय जीवन को युद्ध के बीचोंबीच 'जीवित' किया है। तुम भारतीय विश्वासों पर हरिया रहे हो, क्योंकि स्वतंत्रता मिलने के दिन, वे तुम्हारे प्रयत्नों का मूल्य चुकाना चाहते थे, किन्तु तुम न थे, तुम पास न थे। 'रहस्य' पर भी क्या किसी का कब्ज़ा होता है? तुम भारतीयों की कल्पनाओं पर छाए हुए हो। अब सहगल, ढिल्लन, अबुल-रहमान, शाहनवाज़, शिन्दे के होते हुए भी यादें आकाश में तुम्हें खोजती हैं, पुकार की वाणी मानो कहीं से टकराकर लौट आती हैं, आँखों में कोई दीखता है, किन्तु बाँहें खींचकर उसे हृदय से नहीं लगा पातीं। 'श्रद्धा' सँजोने की नियति आज्ञा नहीं देती। वह तुम्हें सामने लाकर खड़ा नहीं कर देती। श्रद्धा करने को भारतीय मन राज़ी नहीं होता। वह मानता है कि तुम जहाँ कहीं हो, हो अवश्य।

तुम 'रहस्य' हो गए। इस देश के सामंत, वीर, योद्धा और बलिदानी प्रायः रहस्य होते आए हैं, वे अपमानों को अनंत सामर्थ्य से अपनाते हैं और वरदानों के समय रहस्य हो जाते हैं।

तुम बलिपंथी, तुम रक्त-क्रांति के होता, तुम सेनानी, तुम सिपहसालार! क्या सौन्दर्य था तुम्हारी बालमूर्ति में! तरुणाई की तो मानो,

"अनब्याही हुलसी फिरैं, ब्याही मीड़ें हाथ"

की दशा थी, तलवार लेकर तबीयत पर आनेवालों की अथवा तलवार वालों

की तबीयत पर बाग़-बाग़ होने वालों की।

तुम्हारे आसपास, नहीं तुम्हारे पास बेदाग़ बहादुरी मानो अनदेखा-सा अनहोनापन बनकर देखनेवालों को अचंभे के जादू-भरे उल्लास बाँटती रहती। और बंगाल, वह तो मानो,

नैनों के बँगले में तुम्हें, सैनों से बुला लेंगे,

पलकों की चिक डाल पिया को, पुतली पर सुला लेंगे...

बिना कहे कहता रहता है। अपनी क़ीमत अमरों से भी अधिक कूतने वाला प्रेम बोलता नहीं है न! बड़े महँगे मोलों की थी, तुम्हारी यह मनमोहनी मरण-न्योतती मस्ती!

बंगाल के लाड़ले तुम, अपने आप क्रांति पथ पर नहीं आए। तुम्हें खोजा था, प्रबुद्ध लोगों में देशबंधुदास ने। प्यार करनेवाला और खोजनेवाला, मानो सब निहाल हो उठे, जब उन्होंने देखा, कष्ट सामने आने पर तुम अधिक कष्ट माँगते, और त्याग करने पर तुम और अधिक त्याग के लिए बेचैन हो उठते। तुम कष्ट को जोड़ते, त्याग को गुणित करते। रहस्य मानो तुम्हारा स्वरूप ही नहीं, स्वभाव भी था।

तुम्हारी जीवन-यात्राएँ सदा विचित्र रहीं। तुम चले थे, 'आई.सी.एस.' का इम्तहान देने, अपने ही भाइयों को गुलाम मानकर, गुलाम बनाकर विदेशी हुकूमत करनेवालों की 'बदजात' में मिलने, और पहुँच गए सी.आर. दास के क्रांतिवादियों में, जहाँ अपने ही भाइयों को गुलाम बनानेवालों का शिकार खेला जाता और भाइयों को जन-देवता मानकर उनकी पूजा की जाती, मानो रक्त का टिकट लेकर, देश-सेवा के अग्नि-पथ में स्वयं पहुँच गए। इसी तरह तुम प्रस्तुत थे देशभक्तों के साथ किसी ब्रिटिश जेल में युद्धकाल बिताने के लिए, और पहुँच गए युद्ध के बीचोंबीच ब्रिटेन के शत्रुओं को मित्र बना, युद्ध की सेना के सिपहसालार और भारतीय स्वातंत्र्य के 'प्रथम वाइसराय' कहलाने। फिर मित्र-राष्ट्रों के जीतने पर

अपने सिपाहियों से विदा लेकर तुम चले थे, किसी सुरक्षित स्थान की ओर, जहाँ से तुम वज्र की शक्ति बनकर, भारतीय राष्ट्र के शत्रुओं को मज़ा चखा सको। और विमान टूटने से तुम पहुँच गए अनंत के लोक में, जहाँ देवता तुम पर पुष्प-वर्षा करें। गरज यह कि जीवन के यात्रा-पथ में तुम्हें 'मनचीते' से बड़ा 'प्रभुचीता' मिलता रहा।

कांग्रेस के अखिल भारतीय पथ में तुम्हारे सामने जवाहरलाल थे। क्रांतिवादियों का दल, बंगाल का दल, और भारी हलचल के बाद भी गांधीजी और मोतीलाल जी के सम्मिलित बल के सामने तुम छोटे पड़ गए। तुम्हें पुन: कलकत्ता कांग्रेस में (1928) ठोकर मिली।

जब तुम स्विट्ज़रलैण्ड की रोग-शय्या पर पड़े स्वतंत्रता का स्वप्न-चित्र बना रहे थे, तब तुमने अपने देशवासियों को चेतावनी दी थी कि वे गांधी के नेतृत्व से दूर हट जाएँ, किन्तु जब तुम लौटकर भारत आए, तब देशभक्त नारी-मेन, डॉक्टर खरे और न जाने कौन-कौन गांधी-विरोधी तुम्हें स्वयं नष्ट करने पड़े, और गांधी के आशीर्वादों से भरी हरिपुरा कांग्रेस के सभापतित्व की गादी– वह राष्ट्रपतित्व तुमने, स्वयं गांधी और वल्लभभाई और गांधीवादियों के हाथों ग्रहण किया। इसमें भी कौन हारा, तुम या गांधी?

फिर डॉक्टर पट्टाभी से लोहा लेकर, गांधी को पीछे ठेलकर तुमने त्रिपुरी कांग्रेस की गद्दी जीती। कितनी कटुता, कितनी भर्त्सना, कितने इलज़ामों के बीच। एक-सौ तीन ज्वर में भी कौन इलज़ाम तुम पर नहीं लगा, किन्तु तुम्हारी जीती हुई गद्दी पर राज किसने किया? यहाँ भी तुम्हारे सामने कठोर संघर्ष था। तुम्हें हारना पड़ा। कलकत्ता में तुमने कांग्रेस की गादी छोड़ दी।

वह भी एक दिन था। तुमने सोचा, तुमने ठाना, तुमने शुरू किया कि कांग्रेस जैसी एक समानांतर बलशालिनी संस्था का निर्माण करोगे और मेल

किया श्री फ़जलुलहक़ से जो तुम्हारे बाद लीग के ज़हर से बंगाल को भूखा मारने और दंगों में भून डालने में ही सफल हुए।

किन्तु तुम, तुम गांधी के साथ जेल में बैठकर माला जपने को तैयार न थे। तुम युद्ध को प्रभु द्वारा प्राप्त स्वर्ण-संधि समझते थे, और भारतीय आज़ादी के लिए उसका उपयोग करने के लिए इतने निश्चिंत थे कि 'प्राण जाएं' तो भी तुम अवसर को छोड़ने के लिए तैयार न थे। ऐसे निश्चय के लोगों के भाग्य में फूलों की शय्या कभी नहीं रही होती। उनके गले में पड़े फूलों के हार, विश्व के सुगंधायमान, अस्तित्व की क्षणिकता के सिवाय और क्या व्यक्त करते हैं!

तुमने अपनी दृढ़ता को, कभी भी अवसरवादिता की गंदी चादर से नहीं ढाँका। ब्रड़े तुम्हारी पूजा के पात्र थे, तुम्हारा पथ-भंग करने के हक़दार नहीं। तरुण तुम्हारी सेना के सिपाही थे, माता पर कुरबान करने की हवन सामग्री! तुम्हारे प्यार, दुलार, रोमांस और चुंबन में से कुरबानी के यज्ञ धूम की सुगंध आती थी, और सिर उतारने के रक्त-बिन्दु उनमें से चू उठते थे!

पुलिस का कितना पहरा था। कलकत्ता में उस समय स्कॉटलैण्ड-यार्ड के प्रशिक्षित कितने पुलिस खिलाड़ी तुम्हारे दायें-बायें तुम पर निगरानी करते हुए। फिर तुम बीमार; तुम्हें दाढ़ी उग आई। और एकाएक तुम ग़ायब।

हिटलर का तुम्हें भारत का प्रथम वाइसराय बनाना। महीनों कोई ख़बर न पाकर, भारतीयों को तुम्हारी मृत्यु की दुःशंका, और एक दिन तुम्हारा सेगाँव रेडियो पर भारतीयों से बोलना। और वह आज़ाद हिन्द सेना, वह युद्ध, वह तैयारी। मानो युग के महान् और मरण माँगते तूफ़ान के हाथों तुमने अपने-आपको हँसते-हँसते सौंप दिया।

और एक ब्रिटिश-युद्ध को जन-युद्ध कहनेवाली देशघातकता देश में कहने लगी, "वह जापान का एजेण्ट हो गया"। वह देशघातकता, जो खुद

जापान के महान् पड़ोसी के हाथों रोटियों और नारों पर बिक चुकी थी, किन्तु तुम थे कि ज़माने की छाती पर लिखे अपने सुनहले नाम को, अपने हाथों मसलकर मिटा देने के मूल्य तक पर, अपने को संकटों में फेंक चुके थे कि "भारत तू आज़ाद हो जा!"

और आज! आज तो सब तुम्हारा गुण गाते हैं। तुम्हारे सिपाही भारतीय सेना में ले लिए गए। तुम्हारा "जय हिन्द" का नारा भारतवर्ष और भारतीय सरकार का नारा हो गया है और स्वर्गीय शरत् बोस से स्वर्गीय सरदार - श्री गले मिले थे। और उन्हें भारतीय मंत्रिमंडल में जगह भी मिली थी। किन्तु तुम? भारतीय तरुणाई अपने में जब-जब बल खोजेगी, तो तुम्हें पुकार उठेगी!

1. "रहस्य सोचा अरविन्द ने, रहस्य काव्य बनाकर लिखा रवीन्द्र ने और रहस्य अवतरित हुआ तुम्हारे रूप में," इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
2. सुभाष की मृत्यु पर हम भारतीयों को आज भी विश्वास क्यों नहीं होता?
3. सुभाष की खोज से देशबंधु दास कैसे निहाल हो गए?
4. सुभाष की जीवन यात्रा की विचित्रताओं का उल्लेख कीजिए।
5. "जीवन के यात्रा-पथ में तुम्हें 'मनचीते' से बड़ा 'प्रभुचीता' मिलता रहा।" सुभाष के जीवन की घटनाओं के आधार पर इस कथन की पुष्टि कीजिए।
6. आशय स्पष्ट कीजिए:
   (क) तुम्हारे प्यार, दुलार, रोमांस और चुंबन में से कुरबानी के यज्ञधूम की सुगंध आती थी, और सिर उतारने के रक्त-बिन्दु उनमें चू उठते थे!
   (ख) इस देश के सामंत, वीर, योद्धा और बलिदानी प्रायः रहस्य होते आए हैं,

अपमानों को अनंत सामर्थ्य से अपनाते हैं और वरदानों के समय रहस्य हो जाते हैं।

(ग) अनब्याही हुलसी फिरैं, ब्याही मीड़ें हाथ।

7. प्रस्तुत पाठ के शीर्षक के औचित्य पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

8. निम्नलिखित मुहावरों का अर्थ बताते हुए उन्हें अपने वाक्यों में लिखिए।
काँटा चुभना, काँटा निकालना, पछाड़ खाना, मनचीता होना, ठोकर मिलना, माला जपना।

9. यदि नेताजी सुभाष आज एकाएक भारत में प्रकट हो जाएँ तो उनका स्वागत, सम्मान किस प्रकार होगा? अपनी कल्पना के आधार पर लिखिए।

10. नेताजी सुभाष की जीवनी अपने पुस्तकालय से लेकर पढ़िए एवं उसके कुछ रोचक प्रसंग कक्षा में सुनाइए।

11. संस्मरण होते हुए इसकी प्रस्तुति मानपात्र जैसी है। आप इस शैली में अपने किसी माननीय व्यक्ति के लिए मानपत्र लिखिए।

□□

काका कालेलकर

(जन्म : 1885 मृत्यु : 1981)

काका साहब कालेलकर का जन्म महाराष्ट्र राज्य के सतारा नगर में हुआ था। मराठी, गुजराती, हिन्दी, बँगला, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं पर उनका अच्छा अधिकार था। यों उन्होंने भारत की अनेक भाषाओं का अध्ययन किया है, किन्तु लेखन मुख्यतया हिन्दी और गुजराती में ही किया है।

जब कालेलकर शांतिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ कार्य कर रहे थे तो गाँधी जी ने उन्हें बुलाया और गुजरात विद्यापीठ का उपकुलपति बनाया। बाद में उक्त कार्य को छोड़कर उन्होंने राष्ट्रभाषा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया, परन्तु जब विद्यापीठ का काम ठीक से नहीं चला तो गाँधी जी ने पुनः बुला लिया। आठ वर्ष तक उन्होंने वहाँ बड़ी निष्ठापूर्वक कार्य किया और विद्यापीठ को चमका दिया। इस बीच उन्होंने गुजराती की अनिश्चित वर्तनी का मानक रूप प्रदान किया। गाँधी जी का उन पर अटूट विश्वास था जो अंत तक बना रहा।

काका साहब ने हिन्दी के क्षेत्र में आने पर टंडन जी के साथ इलाहाबाद में रहकर कार्य किया। वे उच्च कोटि के विचारक और विद्वान् थे। उनकी मौलिक रचनाओं से हिन्दी-साहित्य पर्याप्त समृद्ध हुआ है। सरल प्रवाहपूर्ण एवं प्रभावशाली भाषा में विचारपूर्ण निबंध और विषयों की तर्कपूर्ण व्याख्या इनकी लेखन शैली की विशेषता है। उनकी लेखन शैली में एक विशिष्ट रोचकता है जिसके प्रति पाठक सहसा आकर्षित हो जाता है। लेखक की दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म है, इसलिए उनकी लेखनी से प्रायः नये-नये चित्र बन पड़े हैं जो मौलिक होने के साथ-साथ नवीन दृष्टिकोण भी प्रदान करते हैं। उन्होंने देश और विदेश की विस्तृत यात्राएँ कीं और उन पर लिखा। हिन्दी-यात्रा का साहित्य

समृद्ध किया। हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने जो प्रयास किया है वह स्तुत्य है।

'छूटे हुए स्वच्छंद पत्ते' एक मुक्त ललित निबंध है जिसमें शिशिर के एक पक्ष-पतझड़ का विशद् वर्णन है। यह वर्णन रोचक होने के साथ-साथ विचारोत्तेजक भी है, क्योंकि लेखक ने यथावसर जीवन-सत्यों का भी उल्लेख किया है। परिवर्तन और क्षणभंगुरता प्रकृति की ही नहीं मानव की भी नियति है। 'शैशव, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु ये मानव के साथ-साथ पत्तों आदि पर भी घटित होती हैं। इस निबंध में 'ग्रंथित' जैसे अनेक प्रयोग विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

6

छूटे हुए स्वच्छंद पत्ते

पतझड़, पतझार या खिज़ाँ आदि अलग-अलग नामों से पहचानी जानेवाली शिशिर ऋतु किसका ध्यान आकर्षित नहीं करती? जवानी जब बुढ़ापे को देखकर हँसती है तब झड़ते हुए पीपल के पत्तों की नई उगनेवाली कोंपलें हँसने लगीं, तब वे शुष्क पर्ण कहने लगे, "यारो धीरज रखो। जो हमारी गत हुई है, वही वक़्त आने पर तुम्हारी भी होने वाली है।"

पतझड़ ऋतु आने पर जिस प्रकार पत्ते झड़ने लगते हैं, उसी प्रकार जब पेड़ सूखने लगता है, उस समय भी पत्ते झड़ने लगते हैं। इसलिए कभी मन में चिन्ता होने लगती है कि पेड़ का यह काल आया है या उसका केवल कायापलट हो रहा है। पतझड़ कहें या सूखना? कायापलट है या काल है?

आज अगहन पूनम का दिन है। जेल के हमारे आँगन में नीम का एक ही पेड़ है और आजकल वह लगातार पत्ते गिराता रहता है। सूरज के दक्षिणायन होने के कारण पेड़ की दक्षिण बाजू जल्दी साफ़ हो गई। पवन भी संप्रति दक्षिण का ही है। चनांचे वे सारे पत्ते मेरे सामने वाले आँगन में आ गिरते हैं।

यों तो इन पत्तों को गिरते देख कर मन में विषाद का भाव उत्पन्न होना चाहिए, लेकिन वैसा बिलकुल नहीं होता। उलटा इन पत्तों को देखते मज़ा आता है। पत्ते झडने लगते हैं तो इतने झड़ते हैं कि मानो आसमान में टिड्डी दल फैल गया हो। मालूम होता है इन पत्तों को नीचे उतरने की थोड़ी भी जल्दी नहीं होती। गिरते-गिरते कितने ही गोल-गोल चक्कर काटते रहते हैं। मुझे कोई प्रसन्न हास्य का चित्र उतारने को कहे, तो मैं इन गोल-गोल चक्कर काटते, हँसते-हँसते और आराम से नीचे गिरते पत्तों का ही चित्र उतारूँगा।

और फिर, ज़मीन पर गिरने के बाद क्या आप मानते हैं कि ये पत्ते चुपचाप पड़े रहेंगे? बिलकुल नहीं। छोटे बच्चे जिस प्रकार दौड़ने का और एक-दूसरे को पकड़ने का खेल खेलते हैं, उसी प्रकार ये पत्ते यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ, तो कभी गोल-गोल चक्कर काटते दौड़ते हैं। चारों ओर जेल की दीवार होने के कारण ऊपर से नीचे उतरने वाला पवन आँगन में चक्कर काटने लगता है। और, इससे इन स्वच्छंद क्रीड़ाप्रिय पर्णो को उसके साथ खेलने का अवसर मिलता है। कभी-कभी जब उत्तर तरफ के दरवाज़े में से हवा का झोंका आ जाता है तब कई एक पत्ते हँसते-कूदते मेरी ओर दौड़े आते हैं। "इन बच्चों ने तो नाक में दम कर रखा है।" कहकर जब बाप कुछ अपनी नाराज़गी ज़ाहिर करता है तब जिस तरह तुरंत "भागो भागो पिताजी हमें पकड़ने आते हैं, जान लेकर भागो, वरना, खैरियत नहीं।" कहते हुए बच्चे माँ के पास दौड़ते आते हैं। और उसके पास यह फ़रियाद पेश करते हैं, "देखो न माँ, पिताजी हमें पकड़ने आते हैं, हमें थोड़ा भी खेलने नहीं देते।" उससे लिपट जाते हैं, वैसे ही ये पत्ते दरवाज़े की ओर से मेरी ओर दौड़े आते हों, ऐसा मालूम होता है।

यह दृश्य देखकर पेड़ पर के हरे पत्तों को क्या लगता होगा? मौत के डर से जड़मूढ़ बने हुए मनुष्य के समान तो ये पत्ते सोचते नहीं होंगे? पेड़ से

छूटे हुए पत्ते जब हँसते-हँसते और गोल-गोल चक्कर काटते नीचे गिरते हैं, तब जिनकी झड़ने की बारी अब तक नहीं आई उनके लिए दु:खी होने का कारण ही क्या है? जेल से छूटने वाले क़ैदियों को देखकर अन्य क़ैदियों को अपने साथीदारों के चले जाने से जैसा लगता होगा, ठीक वैसा ही अनुभव इन पत्तों को भी होता होगा।

मुझे लगता है कि इन पत्तों को थोड़ी देर बाद पेड़ से फूटने वाली फुँलगियों के लिए झटपट जगह कर देने की ही अधिक जल्दी होती होगी। साँप जिस प्रकार अपनी केंचुली उतारकर फिर से जवान बनता है, उसी प्रकार पुराने पत्ते त्यागकर पेड़ भी वसंत ऋतु का स्वागत करने के लिए फिर से ज़वान बनने की तैयारी करता होगा। इसीलिए यह कहने का दिल नहीं होता कि ये पत्ते टूटते हैं या गिरते हैं। ये पत्ते तो छूट जाते हैं। हाथ में पकड़ रखा हुआ कोई पक्षी जैसे मुट्ठी कुछ ढीली होते ही चकमा देकर उड जाता है उसी प्रकार ये पत्ते तेज़ी से छूट जाते हैं।

गरमी के ताप से झुलसकर ख़ाकी रंग के बने हुए पत्ते देखकर मेरे मन में प्रसन्न हास्य की कल्पना नहीं आ सकती। लेकिन इन पत्तों का रंग तो कसदार जुवार की कड़वी का-सा सुनहरा होता है। धूप से उनका आकार टेढ़ा-मेढ़ा होता है सही, लेकिन उसे उपमा ही देनी हो तो सेंके हुए पापड़ की देंनी चाहिए। ये पत्ते गमगीन या मुरझाए हुए बिलकुल नहीं मालूम होते। इसलिए उनकी सर-सर ध्वनि को मुक्त हास्य कहने का मन होता है।

आज तक सूखे हुए पीले पत्ते ही गिरते थे। लेकिन दो दिन से बारिश की दो-चार बूँदें गिरनी शुरू हो गई हैं। परसों तड़के एक अच्छी बौछार आई और उसके कारण कई एक बिलकुल हरे पत्ते भी हिम्मत हारकर नीचे आये। तिस पर बीच-बीच में हवा के ज़ोरदार झोंकों के कारण 'गिरें या न गिरें' का निर्णय न कर सकने वाले पत्तों की ओर से पवन ने अपना मत दिया और वे भी सब नीचे गिर गए।

इस प्रकार असमय हुआ उनका यह अध:पात देखकर तो मुझे दुख होना चाहिए था, मगर वैसा भी नहीं हुआ। मेरे मन में हमेशा एक प्रकार की उतावली रहती है। कोई मेहमान आने वाले हों तो जल्दी क्यों नहीं आते ऐसी अधीरता का मैं अनुभव करता हूँ। हमेशा यह लगा हुआ करता है कि अपने निश्चित दिन के पहले वे आएँ तो कैसा? यह हुआ एक बाजू। दूसरी तरफ़ से मन में यह भी आता है, "जाने वाले मेहमान जाने वाले तो हैं ही, फिर बहुत दिन तक जाने की बातें छेड़कर बेचैन क्यों कर देते हैं? आख़िर जाने ही वाले हैं तो जल्दी जाएँ। ये पत्ते गिरने वाले तो हैं ही, तो फिर सब के सब एक साथ क्यों नहीं गिरते। पर्णहीन वृक्ष की मुक्त शोभा तो देखने को मिलेगी। जिस पेड़ पर एक भी पत्ता नहीं रहा और अँगुलियाँ टेढ़ीमेढ़ी करके जो पागल के समान खड़ा है और जो आकाश के पर्दे पर साँझी या कालीन के चित्र के समान मालूम हो रहा है, उसकी शोभा कभी-कभी आपने ध्यान देकर निहारी है? पर्णहीन टहनियों की जाली सचमुच ही बहुत सुंदर दिखाई देती है।

ऐसी शोभा देखने के लिए सिर ऊँचा उठाकर पेड़ की ओर देखा तो वहाँ नग्न-क्षपणक नज़र आने के बदले अल्प मात्रा में किन्तु बिल्कुल हरे पत्ते नज़र आने से बहुत आश्चर्य हुआ। यकीन हुआ कि बसंत का अब प्रारंभ हो गया है। पेड़ पर एक भी पीला या अधपीला पत्ता नहीं रहा। बूढ़े और नीरस बने हुए पत्ते भी नहीं रहे। पवन से डरने वाले पत्ते भी नहीं रहे। उनके स्थान पर हवा का कैसा भी झोंका आए तो भी हमें उसका डर नहीं है। ऐसा आत्मविश्वास रखने वाले रुआबदार जवान पत्ते काफ़ी संख्या में नाचते दिखाई देते हैं। उन्हें देखकर उनका अभिनंदन करने का दिल होता है। हवा में नमी होने के कारण ये पत्ते दो-चार दिन तो निश्चित टिके रहेंगे। लेकिन उसके बाद? उसके बाद तो सख़्त गरमी पड़ेगी और फिर ज़ोर की हवा चलने लगेगी। रस की आर्द्रता टहनियों द्वारा पत्तों तक नहीं पहुँच

सकेगी और फिर ये सब पत्ते जौहर की तैयारी करके एक ही समय नीचे गिरेंगे। इन सब पत्तों को विदा करने के बाद ही वृक्ष की शाखाओं को नवसर्जन की प्रेरणा होगी। हरएक शाखा को एक तरह की गुदगुदी होने लगी। कहाँ फूटूँ? कहाँ फूटूँ? कहकर अंकुर सर्वत्र बंधमुक्त होने के लिए चकमा देने की चाल चलने लगेंगे।

उसके बाद ही धूप, पवन, बारिश, सरदी किसी से भी न दबने वाली सच्ची यौवन-सृष्टि प्रकट होगी।

मेरी इच्छा और अपेक्षा थी कि पुराने पत्ते सब झड़ जाने के बाद पेड़ कुछ दिन के लिए पर्ण विहीन नग्नावस्था धारण करे और थोड़ी बहुत तपस्या के बाद ही उसमें कोंपलें फूटें। लेकिन सरदी की एकांगी (एक तरफ़ की) धूप और एक लहरी (एक दिशा से बहनेवाली) हवा दोनों ने मिलकर पेड़ की दक्षिण तरफ़ के पत्ते बहुत जल्दी गिरा दिए। चुनांचे उत्तर तरफ़ का और निचला भाग खुला होने से पहले ही दक्षिणी शाखाओं की तपस्या पूरी हुई और हरे रंग की पतली फुँनगियों में कँवली-कँवली लाल पत्तियाँ बड़े जोश से फूटने लगी हैं। महाकवि बाण भट्ट ने इन पत्तों का वर्णन बहुत ही तन्मयता से किया है और बाण के उस वर्णन की तरफ़ ध्यान देने की आवश्यकता रवि बाबू ने अपने 'प्राचीन साहित्य' में ग्रंथित की है। इतने द्विविध स्मरण के कारण भी इन कोमल पत्तों के प्रति मेरे मन में कृतज्ञता की भावना पैदा होना संभव था। लेकिन उन्होंने देखते-देखते मुझे अपने बचपन के पी-पी युग में पहुँचा दिया। चुनांचे ये पत्ते तो मेरे अब दोस्त ही बन गए हैं। नया साल उन्हें मुबारक हो।

प्रश्न-अभ्यास

1. छूटे हुए स्वच्छंद पत्तों के द्वारा लेखक जीवन का कौन-सा सत्य प्रतिपादित करना चाहता है?

2. जवानी बुढ़ापे को देखकर क्यों हँसती है?
3. हवा में उड़ते पत्तों और खेलते हुए बच्चों के व्यवहार में क्या-क्या समानताएँ हैं?
4. इस पाठ में वे कौन-से प्रसंग हैं जिनसे पता चलता है कि यह लेख जेल में लिखा गया है?
5. पेड़ से टूटते पत्तों को देखकर हरे पत्तों को क्या अनुभव होता है?
   (क) मौत का भय
   (ख) अपने हरापन का गर्व
   (ग) जीवन की क्षणभंगुरता का बोध।
   (घ) अपने साथियों से विछोह का दुःख।
6. साँप की केंचुल और मुट्ठी से छूटा पक्षी — इन दोनों उपमानों के द्वारा लेखक ने कौन-सा तथ्य प्रतिपादित किया है?
7. पाठ के आधार पर 'प्रसन्न हास्य' और 'मुक्त हास्य' के अंतर को स्पष्ट कीजिए?
8. हरे पत्तों को असमय गिरते देखकर भी लेखक को दुःख क्यों नहीं होता?
9. पर्णहीन टहनियों के सौन्दर्य का वर्णन लेखक ने किन शब्दों में किया है?
10. निम्नांकित अव्ययों को अपने वाक्यों में प्रयोग कीजिए:
    संप्रति, चुनांचे, अगरचे, हालाँकि,
11. पेड़ के हरे पत्तों और ज़मीन पर गिरे सूखे पत्तों में संवाद कराइए।



(जन्म 1907 ई. मृत्यु. 1987 ई.)

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। सन् 1933 में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए. की उपाधि प्राप्त कर वे प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्या नियुक्त हुईं और तब से वहीं कार्य करती रहीं। बाद में वे लंबें अर्से तक प्रयाग महिला विद्यापीठ की कुलपति रहीं। विविध साहित्यिक, शैक्षिक तथा सामाजिक सेवाओं के लिए भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' अलंकार से सम्मानित किया।

महादेवी जी छायावाद के चार स्तंभों में से एक थीं। उनकी कविताओं में संवेदना का स्वर प्रधान हैं और भाव, संगीत तथा चित्र का अपूर्व संयोग है। कवयित्री होने के साथ-साथ वे सशक्त गद्य लेखिका भी थीं। बहुतों के मत से उनका गद्य साहित्य अपेक्षाकृत अधिक प्रखर और अनुभूति प्रवण है।

'स्मृति की रेखाएं', 'अतीत के चलचित्र', 'मेरा परिवार' आदि में उनका कविहृदय गद्य के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इन ग्रंथों में, उन्होंने कुछ उपेक्षित प्राणियों के चित्र अपनी करुणा से रंजित कर इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं कि हम उनके साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं। 'पथ के साथी' में इस युग के प्रमुख साहित्यकारों के अत्यंत मार्मिक व्यक्ति-चित्र संकलित हैं। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में आधुनिक नारी की समस्याओं को प्रभावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत कर उन्हें सुलझाने के उपायों का निर्देश किया गया है।

महादेवी की गद्य-शैली प्रभावपूर्ण, चित्रात्मक तथा काव्यमयी है और भाषा संस्कृत-प्रधान। इस शैली के दो स्पष्ट रूप हैं--विचारात्मक और भावात्मक। विचारात्मक गद्य में तर्क और विश्लेषण की प्रधानता है तथा भावात्मक गद्य में कल्पना और अलंकृत वर्णनों की।

'संस्कृति का प्रश्न' एक विचारात्मक निबंध है जिसमें लेखिका ने सर्वथा नई दृष्टि से विचार किया है—संस्कृति क्या है? कई प्राचीन संस्कृतियाँ क्यों विनष्ट हो गईं? भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताएँ क्या हैं? उसकी निरंतरता के मुख्य कारण क्या हैं आदि। किसी जाति के साहित्य, कला, दर्शन आदि के अलावा उसके प्रत्येक व्यक्ति का शिष्टाचार उस जाति की संस्कृति के अंग हैं। विभिन्न संस्कृतियाँ बाह्य रूप से भिन्न दिखती हैं, किन्तु उनकी अंतश्चेतना एक-सी है। लेखिका ने संस्कृति की तुलना नदी से की है, सृजन की निरंतरता में ही संस्कृति का जीवन है। भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता है दूसरी संस्कृतियों की अच्छी बातों की ग्रहणशीलता और समन्वयात्मक दृष्टि। अंत में भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं का विवेचन करते हुए उसकी विकास-यात्रा का भी वर्णन है।

7

संस्कृति का प्रश्न

'दीर्घनिकाय' में मनुष्य के क्रमशः उन्नति और अवनति की ओर जाने के संबंध में कहा हुआ यह वाक्य आज की स्थिति से विचित्र साम्य रखता है–

"उन लोगों में एक दूसरे के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा। माता में पुत्र के प्रति, पुत्र में माता के प्रति, भाई में बहन के प्रति, बहन में भाई के प्रति, भाई में भाई के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा; जैसे–मृग को देखकर व्याघ्र में तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होता है। वे एक दूसरे को मृग समझने लगेंगे। उनके हाथों में पैने शस्त्र होंगे। वे उन तीक्ष्ण शस्त्रों से एक दूसरे को नष्ट करेंगे। तब उन सत्वों में कुछ सोचेंगे 'न मुझे औरों से काम न औरों को मुझसे काम, अतः चलकर घने तृण-वन–वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन के फल-फूल खाकर रह जाएँ।" फिर वे घने तृण-वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन के फलफूल खाकर रहेंगें। एक सप्ताह वहाँ रहने के पश्चात् वे घने...... से निकल कर

एक दूसरे का आलिंगन कर एक दूसरे के प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट करेंगे। (चक्कवति सिंहनाद सुत्त 313)

उपर्युक्त कथन के प्रथम अंश की सत्यता तो हमारे जीवन में साधारण हो गई है; परतु दूसरे अश की सत्यता का अनुभव करने के लिए संभवत: हमें इससे कठिन अग्नि-परीक्षा पार करनी होगी।

आज जब शस्त्रों की झंझनाहट में जीवन का संगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया में विकास का पथ खोता जा रहा है, तब संस्कृति की चर्चा व्यंग्य जैसी लगे तो आश्चर्य नहीं। परंतु जीवन के साधारण नियम में विश्वास रखनेवाला यह जानता है कि सघन-से-सघन बादल भी आकाश बन जाने की क्षमता नहीं रखता, वज्रपात का कठोर-से-कठोर शब्द भी स्थायी हो जाने की शक्ति नहीं रखता। जब मनुष्य का आत्मघाती आवेश शांत हो जाएगा, तब जीवन के विकास के लिए सृजनशील तत्त्वों की खोज में, सांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

संस्कृति की विविध परिभाषाएँ संभव हो सकी हैं, क्योंकि वह विकास का एक रूप नहीं, विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है, जिसमें एक रूप स्वत: पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जानने के लिए जैसे उसके रूप, रंग, आकार, बोलचाल, विचार, आचरण आदि से परिचित हो जाना आवश्यक हो जाता है, वैसे ही किसी जाति की संस्कृति को मूलत: समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य-समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि के संचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आंतरिक

संस्कार का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नहीं, निर्मित तत्त्वों की खोज भी है। भौतिक तत्त्व में मनुष्य प्राणितत्त्व को खोजता है, प्राणितत्त्व में मनस्तत्त्व को खोजता है और मनस्तत्त्व में तर्क तथा नीति को खोज निकालता है, जो उसके जीवन को समष्टि में सार्थकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकास-पथ में मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सृजन की निरंतरता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाए हुए है।

साधारणत: एक देश की संस्कृति अपनी बाह्य रूपरेखा में दूसरे देश की संस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उनके देश-काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उनकी विशेष आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है; आंतरिक प्रेरणाओं पर नहीं। बाहर की विभिन्नताओं को पार कर यदि हम मनुष्य की संस्कार-चेतना की परीक्षा करें, तो दूर-दूर बसे मानव -समूहों में आश्चर्य जनक साम्य मिलेगा। जीवन के विकास संबंधी प्रश्नों के सुलझाने की विधि में अंतर है, परंतु उन प्रश्नों को जन्म देने वाली अंत:चेतना में अंतर नहीं।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ लुप्त हो चुकी हैं और अनेक नाश के निकट जा रही हैं तब संस्कृति को विकास का क्रम क्यों माना जाए!

उत्तर सहज है निरंतर प्रवाह का नाम नदी है। जब शिलाओं से घेर कर उसका बहना रोक दिया गया, तब उसे हम चाहे पोखर कहें चाहे झील, किन्तु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा।

संस्कृति के संबंध में यह और भी अधिक सत्य है, क्योंकि वह ऐसी नदी है, जिसकी गति अनंत है। वह विशेष देश, काल, जलवायु में विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओं को सुरक्षित रखती है।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरंतर है, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ चिरंतन हैं, पर मनुष्य अजर-अमर नहीं। एक पीढ़ी जब अतीत के कुहरे में छिप जाती है, तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिए आलोक-पथ में आती है। यह नवीन पीढ़ी मानव-सामान्य अंतश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्तियों की विशेषताओं की उत्तराधिकारी भी; परंतु इस सब का उपयोग उसे बदली हुई परिस्थितियों में करना पड़ता है। अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गंतव्य ही खो जाता है, और यदि एक निश्चित शिथिलता उत्पन्न कर देता है तो उसकी यात्रा ही समाप्त हो जाती है। महान् और विकसित संस्कृतियाँ इसलिए नहीं नष्ट हो गईं कि उनमें स्वभावतः क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे, वरन् अशरीरी होते-होते इसलिए विलीन हो गईं कि उनकी प्राणप्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार ही नहीं दे सका। प्रकृति के अणु-अणु के संबंध में मितव्ययी मनुष्य ने अन्य मनुष्यों के असीम परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, वह अतीत की वैभव-कथा ही नहीं, वर्तमान की करुण गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है। संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्त्व समझने के लिए हमें अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता रहती है।

परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में जीवन को विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी संस्कृति में आदि से अंत तक एक विचारधारा का प्राधान्य स्वाभाविक नहीं। फिर भारतीय संस्कृति तो शताब्दियों को छोड़

सहस्राब्दियों तक व्याप्त तथा एक कोने में सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू-भाग तक फैली हुई है। उसमें एक सीमा से दूसरी सीमा तक, आदि से अंत तक एक ही धारा की प्रधानता या जीवन का एक ही रूप मिलता रहे, ऐसी आशा करना जीवन को जड़ मान लेना है। भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से काट-छाँट कर निकाली हुई नहर नहीं, वह तो अनेक स्रोतों को साथ ले अपना तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली स्रोतस्विनी है। उसे अंधकार भरे गर्तों में उतरना पड़ा है। ढालों पर बिछलना पड़ा है, पर्वत जैसी बाधाओं की परिक्रमा कर मार्ग बनाना पड़ा है; पर इस लंबे क्रम में उसने अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूल धारा नहीं सूखने दी। उसका पथ विषम और टेढ़ा-मेढ़ा रहा है, इसी से एक घुमाव पर खड़े होकर हम शेष प्रवाह को अपनी दृष्टि से ओझल कर सकते हैं; परंतु हमारे अनदेखा कर देने से ही वह अविच्छिन्न प्रवाह खंड-खंड में नहीं बँट जाता।

जीवन की मूल चेतना से उत्पन्न ज्ञान और कर्म की दो प्रमुख धाराएँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकास पाते रहने पर भी ऐसी समीप हैं कि एक के साध्य बन जाने पर दूसरी साधन बनकर उसके निकट ही रहती है। कभी इनमें से एक की प्रधानता और कभी दूसरी की और कभी दोनों का समन्वय हमारे जीवन को विविधता देता रहता है। अनेक सिद्धांत, हमारे जीवन के समान ही पुराने हैं। उदाहरण के लिए हम वर्तमान युग की अहिंसा को ले सकते हें, जिससे पिछलेअनेक वर्षों से हमारे राष्ट्रीय जागरण को विशेष नैतिक बल मिलता आ रहा है। एक बड़े संघर्ष और निराशा के युग के उपरांत वैष्णव धर्म ने भी इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। उसके पहले महाभारत काल का अनुसरण करनेवाले युग में बुद्ध ने भी। इस सिद्धांत का मूल हमें उपनिषद् ही नहीं, वेद के ''मा हिंसा सर्व भूतानि'' में भी मिलता है। यज्ञ के लिए हिंसा के अनुमोदकों के साथ-साथ हमें अहिंसा के समर्थकों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। ब्राह्मण काल में इन दोनों विचारधाराओं की

रेखाएँ कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगती हैं और यज्ञ धर्म से आत्म-विद्या को उच्च स्थान देने वाले उपनिषिद् काल में वे निश्चित रूप पा लेती हैं। अन्य विचारधाराओं के संबंध में भी ऐतिहासिक अनुसंधान कुछ कम ज्ञानवर्द्धक न होगा।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के साथ भारतीय संस्कृति में एक ऐसा पट-परिवर्तन होता है, जिसने हमारे जीवन की सब दिशाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा और दूसरे देशों की संस्कृति को भी विकास की नई दिशा दी। उसमें और वैदिक संस्कृति में विशेष अंतर है। वैदिक संस्कृति हमारी संस्कृति का उपक्रम न होकर किसी विशाल संस्कृति का अंतिम चरण है और बौद्ध संस्कृति विषम परिस्थितियों के भार से दबे जीवन का संपूर्ण प्राणप्रवेग है, जिसने सभी बाधाएँ तोड़कर बाहर आने का मार्ग पा लिया। एक में शक्ति का गर्व है, सृजन का ओज है; पर अपनी भूलों के ज्ञान से उत्पन्न नम्रता नहीं है, दूसरों की दुर्बलता के प्रति संवेदना नहीं है। दूसरे में मनुष्य की दुर्बलता के परिचय से उत्पन्न सहानुभूति है, जीवन के दुखबोध से जनित करुणा है; परंतु शक्ति का प्रदर्शन नहीं है, निर्माण का अहंकार नहीं है।

जो नरक भारतीय जीवन का सत्य बन चुका है, ऋग्वेद का ऋषि उसका नाम पता नहीं जानता। जिस नारी की कल्पना मात्र से भारतीय साधक कंपित होते रहे हैं; ऋग्वेद के पुरुष को उससे कोई भय नहीं है। जिस दुःखवाद ने भारतीय जीवन को इतना घेर रखा है, ऋग्वेद का मनीषी उसके संबध में कुछ कहता सुनता नहीं। इसके विपरीत बौद्ध संस्कृति का मनुष्य, रामायण काल की सतर्क परिणति और महाभारत के संघर्ष का उपसंहार पार कर आया है; दुख, असफलता, पराजय आदि से विशेष परिचित हो चुका है और जीवन के अनेक कटु अनुभवों से बुद्धिमान बन चुका है।

इसी से वैदिक संस्कृति अपनी यथार्थता में भी आदर्श के निकट है और

बौद्ध संस्कृति अपनी बौद्धिकता में भी अधिक यथार्थोन्मुखी है। एक प्रवृत्ति प्रधान और दूसरी अपरिग्रही है; परंतु दोनों विकास की ओर गतिशील हैं। आज की परिस्थितियों में अपने जीवन को स्वस्थ गति देने के लिए सांस्कृतिक विकास के मूल तत्त्वों को समझना ही पर्याप्त होगा, उनकी समन्वयात्मक शक्ति को ग्रहण करना भी आवश्यक है।

'संस्कृति के संबंध में हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरंतर निर्माण-क्रम नहीं, पूर्ण निर्मित वस्तु है, इसी से हम उसे अपने जीवन के लिए कठोर साथी बना लेते हैं। इस भ्रांति ने हमें जीवन के मूल तत्त्वों को नवीन परिस्थितियों के साथ किसी सामंजस्य पूर्ण सबंध में रखने की प्रेरणा ही नहीं दी। हम तो अतीत के ऐसे कृपण उत्तराधिकारी हैं, जो दाय भाग में से कुछ भी अपने ऊपर व्यय नहीं कर सकते और सतर्क पहरेदार बना रहने में ही कर्तव्य की पूर्ति मानते हैं।

जीवन जैसे आदि से अंत तक निरंतर सृजन है, वैसे ही संस्कृति भी निरंतर संस्कारक्रम है। विचार, ज्ञान, अनुभव, कर्म आदि क्षेत्रों में जब तक हमारा सृजनक्रम चलता रहता है, तब तक हम जीवित हैं। 'जीवन पूर्ण हो गया' का अर्थ उसका समाप्त हो जाना है। संस्कृति के संबंध में ही यही बात सत्य है। परंतु विकास की किसी स्थिति में भी जैसे शरीर और अंतर्जगत् के मूलतत्त्व नहीं बदलते, उसी प्रकार संस्कृति के मूल-तत्त्वों का बदलना भी संभव नहीं।

आज की सर्वग्रासी परिस्थिति में यदि हम अपने जीवन का क्रम अटूट रखना चाहें, तो अपनी सांस्कृतिक चेतना को मूलतः समझना और उसके समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना उचित होगा। सैकड़ों फुट नीचे भूगर्भ में, गहरी गुफाओं में या ऊँची-ऊँची शिलाओं में मिले हुए अतीत वैभव तक ही हमारी संस्कृति सीमित नहीं, वह प्रत्येक भारतीय के हृदय में भी स्थापित है। हमारी खोज किसी मृत जाति के जीवन-चिह्नों की खोज

नहीं, जीवित उत्तराधिकारी के लिए उसके पैतृक धन की खोज है और यह उत्तराधिकारी प्रत्येक झोंपड़ी के कोने में उसे पाने को उत्कंठित बैठा है।

प्रश्न-अभ्यास

1. मनुष्य की उन्नति और अवनति के संबंध में 'दीर्घनिकाय' के कथन और आज की स्थिति में क्या समानता है?
2. "संस्कृति जीवन के बाह्य और आंतरिक संस्कार का क्रम ही तो है।" स्पष्ट कीजिए।
3. संसार की विभिन्न संस्कृतियों में कौन-सी आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है?
4. किस आधार पर लेखिका ने संस्कृति की तुलना नदी से की है?
5. संसार की अनेक महान और विकसित संस्कृतियों के नष्ट होने के क्या-क्या कारण रहे हैं?
6. भारतीय संस्कृति विश्व की अन्य संस्कृतियों से भिन्न कैसे है?
7. "वैदिक संस्कृति अपनी यथार्थता में भी आदर्श के निकट है और बौद्ध संस्कृति अपनी बौद्धिकता में भी अधिक यथार्थोन्मुखी है।" कथन के आधार पर वैदिक और बौद्धिक संस्कृति के अंतर को स्पष्ट कीजिए।
8. निम्नलिखित पंक्तियों का आशय स्पष्ट कीजिए:
   (क) भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से काट-छाँट कर निकाली हुई नहर नही, वह तो अनेक स्रोतों को साथ ले अपना तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली स्रोतस्विनी है।
   (ख) जीवन जैसे आदि से अंत तक निरंतर सृजन है, वैसे ही संस्कृति भी निरंतर संस्कार क्रम है।
9. भारतीय संस्कृति बनाम पाश्चात्य संस्कृति विषय पर कक्षा में एक परिचर्चा का आयोजन कीजिए।

10. निम्नलिखित शब्द-युग्मों के पारस्परिक अंतर को स्पष्ट कीजिए–
    अनुसधान-अन्वेषण-आविष्कार, संस्कृति-सभ्यता, निर्माण-निर्मिति, अणु - परमाणु, ज्ञान-विज्ञान, साध्य-साधन।
11. अपने पुस्तकालय से रामधारी सिंह दिनकर की पुस्तक "संस्कृति के चार अध्याय" पढ़िए।



विद्यानिवास मिश्र

(जन्म : सन् 1926 ई०)

विद्यानिवास मिश्र का जन्म गोरखपुर जिले के पकड़डीहा गॉव में हुआ था। प्रारंभिक एवं माध्यमिक शिक्षा गोरखपुर मे प्राप्त करके उन्होने इलाहाबाद में उच्च अध्ययन किया और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए.की परीक्षा उत्तीर्ण की। 'पाणिनीय व्याकरण की विश्लेषण--पद्धति' नामक शोध-प्रबंध पर गोरखपुर विश्वविद्यालय ने उनको पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की। लगभग दस वर्षों तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रेडियो, मध्य प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के सूचना बिभागों में नौकरी करने के बाद वे गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हुए और थोड़े दिनों बाद अमरीका चले गए। वहाँ कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य एवं तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का तथा वाशिंगटन विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य का अध्यापन किया। भारत लौटकर उन्होंने सम्पूर्णानद संस्कृत विश्वविद्यालय के 'भाषा-विज्ञान एवं आधुनिक भाषा विभाग' के आचार्य एवं अध्यक्ष पद पर कार्य किया। तदनंतर क.मु. हिन्दी विद्यापीठ आगरा के निदेशक और बाद मे काशी विद्यापीठ के कुलपति रहे।

मिश्रजी, संस्कृत के प्रकांड विद्वान् तो है ही, हिन्दी साहित्य के समर्थ लेखक भी है। हिन्दी के वर्तमान ललित निबंधकारों मे उनका महत्वपूर्ण स्थान है। सस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी एवं भाषा-बिज्ञान का उच्चस्तरीय ज्ञान पुष्ट बनकर उनका आधार बन गया है। वे डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की परपरा को आगे बढ़ाते हुए सस्कृत साहित्य को वर्तमान जीवन के परिवेश में देखते हैं और अपने लेखो को ज्ञान की ऊष्मा से झुलसाने की अपेक्षा सांस्कृतिक तरलता से सरस कर देते है। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

ललित निबंध सग्रह - छितवन की छाँह, कदम की फूली डाल, तुम चंदन हम

ारा मन, मैंने सिल पहुँचाई, बंसत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है आदि।

'सीपी और चाँदी' डा. मिश्र का विचारात्मक निबंध है जिसमें सांस्कृतिक मान्यताओं और जीवन मूल्यों की समीक्षा की गई है। आधुनिकता की होड़ में कुछ जीवन मूल्य पीछे छूटते दिखाई पड़ते हैं। सर्वत्र संपत्ति की लालसा, शक्ति-विस्तार और युद्धलिप्सा दिखाई पड़ती है, पर लेखक उन लक्ष्यों को भी अनदेखा नहीं करता जिनसे आशा बँधती है कि मनुष्य वापस लौटेगा।

8

सीप और चाँदी

हर चीज़ जो चमकती है सोना नहीं है और हर चीज़ जो उजली दिखती है वह चाँदी नहीं है, पर सोना-चाँदी का भ्रम तो पैदा हो ही जाता है, कभी-कभी भ्रम देर तक पालते रहें तो सीपी ही चाँदी लगने लगती है, चाँदी की उजास नकली लगने लगती है। सत्य को साबित करना प्राय: कठिन होता है, झूठ आसानी से साबित हो जाता है, सच के स्वाभाव में सफ़ाई देना है ही नहीं, जबकि झूठ और सफ़ाई एक ही प्रक्रिया के दो रूप हैं। अब, जब हम रुपहली संस्कृति की बात करते हैं तो असली कि नकली, यह फ़र्क नहीं करना चाहते, कौन असली नकली के प्रपंच में पड़े। लोगों को चाँदनी रात में सफ़ेद आकृतियाँ दिखती हैं, मुझे तो नहीं दीखीं, उन आकृतियों से लोग सम्मोहित हो गए, कुछ भयभीत हो गए, मुझे तो चाँदनी रात के उजास में आकृतियाँ नहीं दिखतीं, एक पारावार दिखता है जो निर्विशेष है। हम जिस समय में जी रहे हैं, जिस संस्कृति में तिर रहे हैं, वह रुपहली कही जाती है, शायद इसलिए बिजली की रोशनी ने रात में भी उजाला कर दिया है, शायद इसलिए कि चाँदी के न सही निकल के सिक्कों से, निकल के भी न सही

कागज़ के सिक्कों से हर चीज़ मिल जाती है, सुख-शांति-ध्यान सब इन सिक्कों से ख़रीदे जा सकते हैं। यहाँ तक कि समय भी क्रेय वस्तु हो गया है, सबका समय, यही है किसी के समय की कीमत कुछ ज़्यादा है तो किसी के समय की कीमत कुछ कम या शायद इसलिए कि अब रूप का ही प्राधान्य है, जो दिखता है, उसी का विशेष महत्त्व है, जो परोक्ष में है, ओट में है और जिसके कारण देखना-दिखना संभव होता है, उसका महत्त्व नहीं है, कुछ अधिक यथार्थवादी हो गए हैं। चाहे जिस कारण हो, हम अपनी संस्कृति को रुपहली कह रहे हैं। आप कहेंगे कि एक भ्रम एक मोह पाल रहे हैं, यही सही, दिल को खुश करने का यह ख्याल अच्छा है।

इस नये माहौल की एक विशेषता है कि इतनी सारी चीज़ें दिखती हैं और सुलभ दिखती हैं कि एक साथ सब लेने को मन करता है, भले ही अपनी पूरी ज़िन्दगी किस्त बन जाए, पर किस्त पर रेफ्रीजरेटर लेंगे, किस्त पर टी.वी. लेंगे, किस्त पर वीडियो लेंगे, किस्त पर मकान लेंगे, किस्त पर तमाम सजावट की चीज़ें लेंगे और धीरे-धीरे मकान को कबाड़खानें में बदल देंगे, कहीं भी आराम से चलने की जगह नहीं बचेगी। चाँदनी रात में ऐसी प्यास कुछ बात अबूझ लगती है, पर प्यास हो तब न बुझे, यह तो प्यास नहीं प्यास का एक नशा है, नशा कैसे कम होगा; प्यास के लिए तो सिर्फ ठंडा पानी चाहिए। इतने सारे उपयोग की सामग्री केवल एक मदहोशी पैदा करती है, मेरे पास यह चीज़ आयातित है, वह चीज़ आयातित है, हम स्वामी हैं, ऐसी-ऐसी वस्तुओं के जो दूसरों को मयस्सर नहीं हैं। हम समाज में ऊँचे हैं, बड़े हैं। स्वाभाविक रूप से इसी से जुड़ी एक और विशेषता है, बाहर सब कुछ सामानों से भरता जाता है, भीतर खाली होता जाता है, अकेला मद कितनी जगह लेगा, प्यार सिकुड़ जाता है, करुणा ज़मीन के भीतर धँस जाती है, इसके कारण यह मिल्कियत भारी पड़ने लगती है, यह उजाला भयभीत करने लगता है, लोग धुँधलके बनाने लगते हैं, मोमबत्तियों की दो

चेहरों तक व्यापने वाली रोशनी में डिनर लेने लगते हैं, एक आत्महीन संसार में आत्मीयता की खोज करने लगते हैं। साहित्य को तब मौका मिलता है इस दुखती रग को छूने का और हर जीवन की चरम आवश्यकता आत्मीयता की पुकार लगाने का, मनि-माणिक-मुक्ता कंठहार सब लुटने को तैयार हो जाते हैं, एक छोटे तिनके की कीमत पर जिसे हाथ में लिए हम बेसिलसिले की हज़ार बातें समयहीन प्रवाह में करते चले जाते हैं। इसलिए इस उजाले का एक अँधेरा कोना है जहाँ इसकी प्राणवत्ता अवशिष्ट है।

आधुनिक परिवेश का एक दूसरा लक्षण है गति की तीव्रता। प्रकाश की गति पता लगते ही जैसे हर गतिशील पदार्थ ने अपने वेग में वृद्धि कर ली है, दूरियाँ क्षणों में सिमटती जा रही हैं, रुकने की इच्छा होते हुए भी कोई रुक नहीं सकता, क्योंकि दूसरे चल रहे हैं और तेज रफ्तार से चल रहे हैं। यह गति की तीव्रता ऐसी है जिसमें छोटी चीज़ों की पहचान खोती जा रही है, चीज़ें सपाट होती जा रही हैं, कोने-कगारे नहीं दिखते, वस्तुएँ अपनी निजता खोती जा रही हैं, गति का दबाव पड़ता है तो एक साथ एक किस्म की हज़ार चीजें मिनटों में पैदा हो जाती हैं, छह-छह साल एक हाथी दाँत की चित्रकारी पर लगें, यह बात या तो अविश्वसनीय लगती है या फिर उपहासनीय। संगीत में तार स्वर तारतर होता जा रहा है, चित्रकला में रंग शोख़ दर शोख़ होते जा रहे हैं, शिल्प में वक्रताएँ सीधी होती जा रही हैं, अच्छे लेन्स और फ़िल्टरवाला कैमरा सारे परिवेश को धोकर सपाट कर देता है। बस चेहरे की हर रेखा के ऊपर कुछ अतिरिक्त ध्यान देता है, हर रेखा को अतिरंजित कर देता है। साहित्य में पेड़ रह भी गया तो न उसके पत्ते हैं न उसके फूलों की रंगत है, रंगत है भी तो एक आरोपित रंगत है, साहित्य भी मन की सिलवटों को उधेड़ने में इतना व्यस्त है कि ऋतुएँ बेकार हो गई हैं, हज़ार रिश्तों की हज़ार पहचानें बेकार हो गई हैं, बस एक रिश्ता है और उसकी एक विरस होती जाती पहचान है; स्त्री-पुरुष का रिश्ता बड़ी तेज़ी से जुड़ने वाला, बड़ी

तेज़ी से टूटने वाला रिश्ता। पर इस गति की लाचारी ने सोचने को विवश किया है कि गंतव्य भी कुछ है कि बस गति ही गति है। और गंतव्य सब एक दूसरे से पूछते हैं। किधर जा रहे हो, हरएक उत्तर देता है, जिधर सब जा रहे हैं, उधर जा रहा हूँ, पर सब किधर जा रहे हैं, इसका कोई उत्तर किसी के पास नहीं।

नहीं, उत्तर तो है, पर वह उत्तर कोई सुनना नहीं चाहता। यह गंतव्यहीन यात्रा सिर्फ़ इसलिए कि, किसी को अपने से योग्यतर, अग्रतर देखना सह्य नहीं है। प्रगति की भूख आदमी को राक्षस बना देती है, प्रगति किसी कीमत पर होनी चाहिए, क्योंकि जो सबसे आगे होगा, वही सबका स्वामी होगा, सबका नियंत्रक होगा, अतः ज़रूरत पड़े तो आगेवाले को कुचलकर उसके आगे चले जाओ, पर पीछे न रहो। यह जो अतिशक्तिशाली होने का, सब कुछ पाने का लोभ है, वही सबको एक गति के आवर्त्त में डाले हुए है। पर, सर्वशक्तिशाली और सर्वाधिपति होने में कुछ रखा भी है, यह जाँचने की प्रक्रिया शुरू हो गई है, इस ललक की निस्सारता की पहचान शुरू हो गई है। यह शुभ संकेत है। बड़े-से-बड़े यांत्रिकी में संपन्न देश भी आदिम जीवन की स्मृति गुफाओं में शांति पाने के लिए सचेष्ट हो रहे हैं, पर तेज़ी का नशा वहाँ भी है, धैर्य नहीं है, इससे एक-एक प्रयोग होते हैं और लोग उससे ऊब जाते हैं, ध्यान, योग, भोग कहीं मन नहीं टिकता।

एक पत्रिका में एक उपन्यास पढ़ा जो एक हेजेल वृक्ष को केन्द्र में रखकर लिखा गया था, सारी आधुनिक लाचारियों ने गाँव को उजाड़ दिया। एक पेड़ बचा रहा, बरसों बाद उस पेड़ ने अद्‌भुत मानवीय ममता की पहचान कराई, पेड़ के साथ एक होने का अर्थ पूरे जीवन के साथ एक होना है।

आदमी का प्राप्य कुछ और न सही बेहतर आदमी ही है, दूसरे शब्दों में आदमी को कुछ होना है, जो है, उससे अलग, होने के रास्ते में पाना सबसे

बड़ी बाधा है, प्राप्तियों का मोह छोड़ते जाओ, बैकुंठ की, बैकुंठनाथ की, सबकी प्राप्ति के प्रलोभन छोड़ दो, बस कोशिश करो कि हरि के प्रेमी बनकर रहो, प्रेमी भी नहीं केवल प्यार रह जाओ, तो अपने आप प्राप्तियाँ छोटी हो जाएँगी और इस भाव-साधना में सब कुछ चरणों में बिछा मिल जाएगा।

पाने का अर्थ अपने को खोना है, अपने मानव स्वभाव को खोना है, इसीलिए विधाता ने मनुष्य को एक सीख दी कि दो-दो; देहि-देहि। जो पाते हो उसे दो, पर वह देना इसलिए न हो कि दान का फल तुम्हें प्राप्त हो। दान और उत्सर्ग का कोई और फल नहीं होता सिवाय अपने चित्त के परिष्कार के, एक छोटा मन बड़ा हो जाता है, एक बलशाली और बल का अभिमानी मन दीन-हीन हो जाता है बलि की तरह। देना स्वत्व का त्याग है, स्वत्व के त्याग से स्व-परकीय हो जाता है, यह परकीयभाव ही मानव स्वभाव है। शबरी ने बेर राम के लिए रखे, उन्हें चखकर दिया; खाया नहीं। राम के स्वाद के लिए, वे बेर और मीठे हो गए और शबरी का राम के लिए भाव और मीठा हो गया। भावों में आदमी बाग़ लगाता है, पर अपने स्वयं तब तक फल नहीं खाता जब तक उस बाग़ का विवाह एक जल-स्रोत से नहीं करा देता, उसे बाग़ की चिन्ता पहले है। वह बाग़ के बहाने पहले फूलना-फलना चाहता है। अभी गृध्र भाव प्रबल है, अभी दान भी किस कुत्सित शक्ति-विस्तार के लोभ से है, पर यह स्थिति रहेगी नहीं और रहेगी तो मनुष्य नहीं रहेगा। मनुष्य कभी-न-कभी फिर सोचेगा कि यह बस किसके लिए। आज के शक्तिशाली राष्ट्र ग्रीक कथा के मिदास की दयनीय स्थिति में शीघ्र ही पहुँचे रहे हैं, जो छूएँगे सोना हो जाएगा, वह सोना न खाया जा सकेगा, न पिया जा सकेगा। एकाएक अपनी ममता की एकमात्र केन्द्रबिन्दु अपनी ही लड़की छूते ही स्वर्ण-प्रतिमा बन जाती है और मिदास स्वर्णलालसा के करुण अंत से चीख़ पड़ता है। युद्धलिप्सा भी इस गृध्र भाव

का दु:खद परिणाम है। आज कला या साहित्य में जो युद्ध के विरूद्ध स्वर उठाए जा रहे हैं, उससे आशा होती है कि मनुष्य वापस लौटेगा, मिदास की चीख़ सुनकर, वह इतना बड़ा जोखिम उठाने को तैयार नहीं है।

आज का परिवेश और इसमें बाहरी चमक-दमक चैत के चार दिन हैं। झुलसाने वाले लाल भभूका दिन आगे खड़े हैं, दवारि लगी हुई अभी से दिखाई दे रही है, एक-एक बूँद पानी बटोरने की ज़रूरत है, पुरानी जड़ों से, पुराने स्रोतों से, अंधे पड़े कुओं से, प्राचीन वैदिक साहित्य से, पुरानी मिथकी गाथाओं से, लोक-साहित्य से। मनुष्य के प्रदीप्त अहंकार का प्रायश्चित करना है। मंत्र बोलनेवाला साहित्य नेपथ्य में क्यों प्रतीक्षा कर रहा है। क्या साहित्य को भी अपनी भूमिका के लिए कोई दूसरा संकेत देना है? क्यों नहीं, सीधे बीच के द्वार से प्रवेश करके उद्घोषणा करता है, चाँदी के उजलेपन से अधिक विश्वास करो सीपी के उजलेपन पर, क्योंकि सीपी में एक कसक होती है, वह कसक मोती बन सकती है, सीपी की उजास से अधिक विश्वास करो चाँदनी की उजास पर क्योंकि वह रूप मात्र नही, वह रस भी है, वह महारस का आमंत्रण भी है, और चाँदनी की उजास से अधिक प्रतीति करो सूधेपन की उजास पर जो हर कलौंस को धो देती है, उस सूधे निश्च्छल सर्वात्म मन में ही मनुष्य का सत्य है।

प्रश्न-अभ्यास

1. आधुनिक संस्कृति को रूपहली क्यों कहा जाता है?
2. सामान से बाहर भर जाने पर भीतर खालीपन कैसे आ जाता है?
3. केवल प्यार बने रह जाने से प्राप्तियाँ अपने आप छोटी कैसे जो जाएँगी?
4. ''उजाला भयभीत करने लगता है, लोग धुँधलके बनाने लगते हैं'', उजाला एवं धुँधलके के प्रतीकार्थ स्पष्ट कीजिए।

5. "एक छोटा मन बड़ा हो जाता है, एक बलशाली और बल का अभिमानी दीन-हीन हो जाता है", इन पंक्तियो के अंतर्विरोध स्पष्ट कीजिए।
6. 'मिदास की चीख' किस स्थिति की ओर इंगित करती है?
7. भाव पल्लवन कीजिए :
   (क) सच के स्वभाव मे सफ़ाई देनी है ही नहीं, जबकि झूठ और सफाई एक ही प्रक्रिया के दो रूप हैं।
   (ख) गंतव्य भी कुछ है कि बस गति ही गति है।
   (ग) भावों में आदमी बाग लगाता है, पर अपने स्वयं तब तक फल नही खाता जब तक उस बाग़ का विवाह एक जल-स्रोत से नहीं कर देता।
8. प्रस्तुत पाठ में सीप और चाँदी का किन अर्थों में प्रयोग हुआ है?
9. इस पाठ को पढने से आपको क्या प्रेरणाएँ मिलीं?
10. क्या इस पाठ में कहीं 'बाज़ार दर्शन' के कथ्य मे साम्य है? यदि है तो दोनों की तुलना कीजिए।
11. पाठ में आए तद्‌भव शब्द छाँटिए और उनके तत्सम रूप लिखिए।



सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

(जन्म : 1911 ई० मृत्यु : 1987 ई०)

अज्ञेय जी का जन्म कसया (कुसीनगर) उत्तर प्रदेश मे हुआ था। उनका बचपन अधिकतर लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। उनकी शिक्षा मद्रास और लाहौर में हुई जहाँ उनके विद्वान् पिता सेवारत थे। सन् 1929 ई० में पंजाब विश्वविद्यालय से उन्होने बी.एस-सी. की परीक्षा पास की और अंग्रेजी विषय में एम.ए. की पढ़ाई करते समय षड्यंत्र केस तथा अन्य अभियोग के सिलसिले में फरार हुए किन्तु बाद में पकड़े गए और दो वर्ष नज़रबंद रहे। उन्होने किसान आंदोलन में भी सक्रिय भाग लिया। 'सैनिक', 'विशाल भारत', 'प्रतीक', 'दिनमान', 'नवभारत टाइम्स' और 'वाक्'(अंग्रेजी त्रैमासिक) आदि पत्रिकाओं का उन्होने बड़ी कुशलता से सम्पादन किया। कुछ वर्ष आकाशवाणी में सलाहकार के पद पर भी कार्य किया। सन् 1943 से 1946 तक के अपने जीवन के 3 वर्ष उन्होने सेना मे बिताए। 1955 से 1956 तक यूरोप की और 1957 से 1958 तक पूर्वेशिया की यात्राएँ की। इसके बाद अनेक बार भ्रमण और अध्यापन के सिलसिले में अज्ञेय जी विदेश गए है। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ने डी.लिट की मानव उपाधि से अज्ञेय जी को विभूषित किया। 'कितनी नावों में कितनी बार' पर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

अज्ञेय जी एक सफल कवि, उपन्यासकार, कहानीकार और आलोचक हैं और इन सभी क्षेत्रों मे शीर्षस्थ है। छायावाद और रहस्यवाद युग के बाद हिन्दी कविता को नई दिशा देने में अज्ञेय जी का सबसे बड़ा हाथ है। हिन्दी के अनेक नये कवियों के लिए अज्ञेय जी प्रेरणा-स्रोत और मार्गदर्शक रहे है। उनकी रचनाओं का मूल स्वर दार्शनिक और चिन्तन-प्रधान है।

अज्ञेय जी की प्रमुख प्रकाशित रचनाएँ हैं - 'हरी घास पर क्षण भर', 'बाबरा

अहेरी', 'इंद्रधनु रौंदे हुए', 'सुनहले शैवाल', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'सागर मुद्रा' आदि, (कविता) शेखर एक जीवनी, नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी (उपन्यास) अरे यायावर रहेगा याद, एक बूँद सहसा उछली (यात्रा वृत्तांत), त्रिशंकु, आत्मने पद (निबंध) विपथगा परंपरा, कोठरी की बात, शरणार्थी, जयदोल, ये तेरे प्रतिरूप (कहानी संग्रह)।

'भारतीयता' निबंध में अज्ञेय जी ने भारतीय परंपरा के जड एवं जीवत पक्षों की विवेचना की है। लेखक के मत में आज बहुधा जड़ पक्षों को भी भारतीयता की आत्मा मान लिया जाता है। वस्तुतः जड़ता त्याज्य है जबकि जीवतंता ग्राहय।

9

भारतीयता

भारत की आत्मा सनातन है, भारतीयता केवल एक भौगोलिक परिवृत्ति की छाप नहीं, एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है, जो भारतीय को सारे संसार से पृथक् करता है। भारतीयता मानवीयता का निचोड़ है, उसकी हृदय-मणि है, उसका शिरसावतंस है, उसके नाक का बेसर है–

आप कहते चले जाइए, सौ श्रोताओं में से एक को···· नहीं, आपको हज़ार श्रोता मिलें तो हज़ार में से एक को···· छोड़कर बाकी सब आपके शब्द गट-गट पी जाएँगे, एक हलकी-सी तंद्रा, एक सुखालस पिनक-सी उनपर छा जाएगी। कितना अच्छा है यह सुनना कि भारतीयता मानवीयता के नाक का बेसर है, क्योंकि निःसंदेह भारतीयता के नाक का बेसर मैं स्वयं हूँ····

तब वह जो सौ में एक – या हज़ार में एक – है, उसे पकड़ लीजिए! उसे इंगित करके बाकी सभा से कहिए, "देखिए, यह आदमी शाश्वत भारतीयता को नहीं जानता-मानता! अपनी संस्कृति से, मानवीयता के श्रेष्ठ दाय से, यह अपरिचित है, भारत की सनातन आत्मा से इसने अपने को तोड़

लिया है....'' सब लोग उसकी ओर दया-भरी दृष्टि से देखने लगेंगे.... अरे, बिचारा, अभागा, अज्ञान, मोहांधकार-ग्रस्त कहीं का! और कुछ कदाचित् अवहेलना और हिकारत की दृष्टि से उसे देख कर मुँह फेर लेंगे.... कंबख़्त परंपरा-द्वेषी, परमुखापेक्षी, सदियों की गुलामी से इसकी आत्मा गुलाम हो गई है!

ठीक इस मौके पर आप मुड़कर उन नौ सौ निन्नानबे श्रद्धालु आत्मरत श्रोताओं से वह प्रश्न पूछ बैठें जो उन्हें पहले ही आप से पूछना चाहिए था— कि भारतीयता आख़िर है क्या? भारत की आत्मा का वैशिष्ट्य किसमें है? तो वे अचकचा जाएँगे। फिर खिसियानी-सी हँसी हँस देंगे। हें-हें, यह भी भला कोई पूछने की बात है, आप तो मज़ाक करते हैं, भारत की आत्मा माने — हाँ-हाँ, सदियों से सब जानते हैं, भारत की आत्मा माने— भारत की आत्मा! हाँ-हाँ, वही तो।

हाँ, हाँ वही तो! सदियों से सब जानते हैं तभी अब पूछने की कोई ज़रूरत नहीं है। लेकिन किसी भी सांस्कृतिक परंपरा से, किसी भी जाति की व्यक्तिगत और समूहगत रचनात्मक प्रवृत्तियों के समन्वय से उत्पन्न गति से लाभ उठाने के लिए, उसे नया जीवन देने के लिए, उससे अनुप्राणित होकर आगे बढ़ने के लिए, आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति यह प्रश्न पूछे, उसका उत्तर अपने में पाए, उससे जो भी गत्यात्मक प्रेरणा मिल सकती हो उसे आत्मसात करे। क्योंकि ऐतिहासिक परंपरा कोई पोटली बाँधकर रखा हुआ पाथेय नहीं है जिसे उठाकर हम चल निकलें वह रस है जिसे हम बूँद-बूँद अपने में संचय करते हैं— या नहीं करते, कोरे रह जाते हैं।

और प्रश्न पूछने की आवश्यकता का सबसे बड़ा प्रमाण तो वह स्वीकारात्मक औदासीन्य ही है जो इस प्रश्न पर हमें मिलता है। उसे लक्ष्य करते हुए समकालीन भारतीय मानस की पड़ताल करें — और यहाँ भारतीय मानस से अभिप्राय केवल उसके इने-गिने मेधावियों का मानस नहीं,

लोक-मानस है, प्राकृत जन का भी मानस है···· तो हम कह सकते हैं कि भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, काल की भावना, काल की आदि-हीन अंत-हीन प्रवाह की भावना – और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षणों की सरणि नहीं, काल हमसे, भारतीय जाति से, संबद्ध विशिष्ट और निजी क्षणों की सरणि के रूप में। इसके प्रभावों की पड़ताल की जाए। इससे पहले इसकी पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि और दौड़ाई जाए। कलियुग कितने वर्षों का होगा, यह शास्त्र बताते हैं। इसी प्रकार द्वापर, त्रेता और कृतयुगों की अवधियाँ हैं। यों तो मानव काल-कल्पना की शक्ति से परे चला जाता है। लेकिन आगे जब हम जानते हैं कि यह ब्रह्मा का केवल एक पल है, और फिर हिसाब लगाते हैं कि ब्रह्मा का दिवस और वर्ष कैसा होगा— तब हम यथार्थता के क्षेत्र से बिलकुल परे चले जाते हैं। ऋषि-मुनि साठ हज़ार वर्ष तक तपस्या कर लेते थे। आज साठ वर्ष को मानवीय आयु की औसत मानकर उससे हज़ार-गुनी अवधि की कल्पना, खैर, की भी जा सकती है, लेकिन देवताओं की आयु-गणना करने जाते ही फिर यथार्थता का आँचल छूट जाता है। इस प्रकार सनातन के बोध तक पहुँचते-पहुँचते हम काल की यथार्थता का बोध खो देते हैं। सनातन की भावना लंबी काल-परंपरा की भावना नहीं, काल की अयथार्थता की भावना है।

यों तो पश्चिम की युवा संस्कृतियों में पले हुए लोग प्रायः पूर्व की प्राचीन संस्कृतियों की चर्चा करते हुए 'संस्कृति के भार' की चर्चा किया करते हैं···· बहुत लंबी सांस्कृतिक परंपरा का एक बोझ उस परंपरा में रहनेवालों पर हो जाता है, जिससे वे समकालीन प्रत्येक प्रवृत्ति या घटना को सुदूर अतीत की कसौटी पर परखने लगते हैं, सामने न देखकर पीछे देखते हैं और एक प्रकार के नियतिवादी हो जाते हैं। भारत के बारे में···· और इसी प्रकार मिस्र आदि के बारे में···· पाश्चात्य अध्येताओं ने ऐसे विचार प्रकट

किए हैं। लेकिन अगर कुछ सहस्र वर्षों की सांस्कृतिक परंपरा का ही इतना बोझ हो सकता है, तो कल्पना कीजिए उस बोझ की, जो ब्रह्मा के एक युग की उद्भावना करने से पड़ता होगा! यद्यपि यह हम कह चुके कि ब्रह्मा का युग हमारी उद्भावना की पकड़ से बाहर की चीज़ है – वह काल्पनिक यथार्थता भी नहीं हो सकती।

'भारतीयता' का दूसरा विशिष्ट गुण है स्वीकार की भावना। किसी हद तक यह पहली विशेषता का परिणाम ही है। हिन्दू देवताओं को छोड़कर किसी के दिन और वर्ष इतने लंबे नहीं होते। यों अमर तो सभी देवता होते हैं, लेकिन दूसरों के देवताओं के दिन-रात साधारण मानवीय दिन-रात ही होते हैं और उनकी जीवन-चर्या की कल्पना हमें अपने यथार्थ काल से परे नहीं ले जाती। लेकिन भारत के देवताओं के जीवन की कल्पना ऐहिक काल की भावना को मिटाकर ही की जाती है और जब हमारा काल ही यथार्थ नहीं रहता, तब उस काल में होनेवाले व्यापार भी अयथार्थ हो जाते हैं। हमारे यथार्थ दुःख-क्लेश, हमारी यथार्थ आशा-आकांक्षा, मानव के उद्योग-परिश्रम–मानवी व्यापार-मात्र अयथार्थ हो जाते हैं। और यथार्थता से इस स्खलन का प्रभाव मानवी संबंधों पर भी पड़ता है : हमारे लिए हमारे पड़ोसी भी यथार्थ नहीं रहते, बल्कि किसी हद तक हम स्वयं ही अपने लिए यथार्थ नहीं रहते – क्योंकि जिस ब्रह्मा के एक निमिषपात में हमारे कल्पांत विलीन हो जाते हैं, उसके सामने क्या है हमारा क्षुद्र जीवन– हमारी अपेक्षा में एक रोग-कीटाणु का जीवन जितना नगण्य है, उससे भी तो अधिक नगण्य हम हो जाते हैं। और फिर ब्रह्मा के 'निमिष-पात' की हम जब कल्पना करते हैं, तो ब्रह्मा की मानवाकार ही कल्पना करते हैं – अर्थात् एक कल्पित – या कल्पनातीत– अतिमानव ब्रह्मा के सामने यथार्थ ऐहिक मानव न कुछ के बराबर है। अपनी इस नगण्यता से ही स्वीकार की भावना उत्पन्न होती है – दुःख के प्रति स्वीकार, दैन्य के प्रति स्वीकार, अत्याचार

के प्रति स्वीकार, उत्पीड़न के प्रति स्वीकार — यहाँ तक कि दासता के प्रति स्वीकार, वह दासता दैहिक हो या मानसिक।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'भारतीयता' के मूल में जो भावना या भावनाएँ हैं, उनसे हमें मानवीय अस्तित्व की नगण्यता और जीवन के प्रति अवज्ञा का पाठ मिलता है। यह परिणाम चौंकाने वाला है। लेकिन स्वीकारी सहज चौंकता भी तो नहीं। और न चौंकने के लिए उसके पास और भी सहारे हैं — इस अस्तित्व से परे परलोक के किसी चमकीले अस्तित्व का, और जीवन के प्रति अवज्ञा के उत्तर में जीव-दया के भारतीय आदर्श का। लेकिन जिस तरह चिरंतन काल की भावना ने हमारे यथार्थ काल के बोध को मिटाया है, उसी प्रकार व्यापक जीव-दया ने जीवित-व्यष्टि के प्रति करुणा को भी मिटा दिया है, जीव-दयावादी जीव-मात्र के प्रति दया रखता हुआ किसी भी जीव-मानव या मानवेतर — का कष्ट मज़े में देखता चलता है!

मैं न परंपरा-द्रोही हूँ, न भारत-द्वेषी हूँ। न ही मैं निराशावादी हूँ। और तात्कालिक लाभ या उपयोगिता या सफलता के नाम पर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा मुझे कभी अभीष्ट नहीं रही — मेरा आग्रह सदैव अवसरवाद के विरुद्ध और नैतिक मृत्यु की रक्षा का रहा है। मुझे यही कहना है कि भारतीयता का जो रूप हमारी तत्संबंधी सहज स्वीकृति — हमारे सनातन स्वीकार! — में लक्षित होता है, उसकी मूल भावनाएँ— स्वयं जड़ हैं और जाड्य उत्पन्न करने वाली हैं, और उससे परिव्याप्त संस्कृति (मैं 'अनुप्राणित' कहने लगा था, पर अनुप्राणित तो तब हो जब प्राण हो, जड़ता से तो विजड़ित ही होगी!) गतिहीन, स्थितिशील और अगतिवादी या प्रगतिवादी ही होगी।

इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि भारतीय संस्कृति अग्राह्य है, या कि भारतीय परंपरा त्याज्य है। परिणाम एक तो यह निकलता है कि उसके

संबंध में हमारी धारणाएँ भ्रांत हैं और त्याज्य हैं। दूसरे यह भी परिणाम निकलता है कि जिसे हम भारत की आत्मा कहते हैं, वह वास्तव में आत्मा और अनात्मा का, जीवित और जड़ का एक पुंज है, जिसकी परीक्षा की आवश्यकता है, परीक्षा करके जड़ को अलग रख देना होगा — चाहे पुरातत्त्व संग्रहालय में ही — और जीवित को आगे बढ़ाना होगा। और आगे तीसरा परिणाम यह भी निकलता है कि आज बहुधा भारतीय संस्कृति के जड़ तत्त्वों को ही भारतीयता माना जाता है। कुछ लोग भारतीयता के समर्थन के नाम पर निरी जड़ता का समर्थन करते हैं; कुछ दूसरे जड़ता के विरोध के नाम पर संस्कृति से ही इनकार करना चाहते हैं।

हमें चाहिए वह बेलाग, सचेत, स्वाधीन जिज्ञासा जो परिवृत्ति में घिरी हुई भी आगे देखे। जो अपने देश में रहकर भी आगे देखे, आगे दूसरे देशों को नहीं, हमसे आरंभ होने वाली आगे की दिशा को, आगे को। जो अपने काल में रहकर भी आगे देखे, न इधर अनादि को, न उधर अनंत को, वरन् हमसे आगे के उस काल को जो हमारे काल से प्रसूत है और जिसके हम स्रष्टा हैं। वह अपरिबद्ध जिज्ञासा भारतीयता है कि नहीं, इस पर विद्वान् लोग बहस कर सकते हैं, मैं असंदिग्ध भाव से इतना जानता हूँ और कहना चाहता हूँ कि वह भारतीयता को कल्याणकर बना सकती है।

प्रश्न-अभ्यास

1. "कितना अच्छा है यह सुनना कि भारतीयता मानवीयता के नाक का बेसर है।" इस कथन में निहित व्यंग्य को स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीयता को न जाननेवाले व्यक्ति का तिरस्कार करनेवाले श्रद्धालुओं से स्वयं भारतीयता का अर्थ पूछने पर वे क्यों अचकचा जाते हैं?
3. लेखक प्रत्येक व्यक्ति से "भारतीयता क्या है" प्रश्न का उत्तर स्वयं खोजने का आग्रह क्यों करता है?

4. प्रस्तुत पाठ में भारतीयता के कौन-कौन-से गुण बताए गए हैं?
5. 'संस्कृति के भार' से क्या तात्पर्य है? भारत के संदर्भ में इसका प्रयोग कहाँ तक उचित है?
6. भारतीय संस्कृति के संबंध में लेखक ने किन तीन परिणामों का उल्लेख किया है?
7. आशय स्पष्ट कीजिए '
   (क) ऐतिहासिक परंपरा कोई पोटली बाँध कर रखा हुआ पाथेय नहीं है जिसे उठाकर हम चल निकलें।
   (ख) सनातन की भावना लंबी काल-परंपरा की भावना नहीं, काल की अयथार्थता की भावना है।
   (ग) 'भारतीयता' के मूल में जो भावना या भावनाएँ हैं, उनसे हमें मानवीय अस्तित्व की नगण्यता और जीवन के प्रति अवज्ञा का पाठ मिलता है।
8. इस पाठ का मुख्य स्वर है :
   (क) *भारतीयता के अंधप्रेमियों का तिरस्कार करना।*
   (ख) भारतीय संस्कृति के गुणों का उल्लेख करना।
   (ग) भारतीय संस्कृति की पाश्चात्य संस्कृति से तुलना करना।
   (घ) भारतीय सस्कृति के संबंध में निष्पक्ष स्वतंत्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करना।
9. इस पाठ के आधार पर भारतीयता पर एक निबंध लिखिए।

□ □

हजारी प्रसाद द्विवेदी

(जन्म : 1907 ई. मृत्यु : 1979 ई)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िले में आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया में हुआ। संस्कृत महाविद्यालय, काशी से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने ज्योतिष विषय में 1930 ई में ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की। उसी वर्ष उनकी नियुक्ति शांति निकेतन में हिन्दी-शिक्षक के रूप में हुई। 1950 ई. में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बने। इस पद पर दस वर्ष तक कार्य करने के पश्चात् 1960 ई. में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिन्दी-विभागाध्यक्ष के पद का कार्यभार संभाला। वहाँ से अवकाश ग्रहण करने पर वे भारत सरकार की हिन्दी विषयक अनेक योजनाओं से सबद्ध रहे। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि से और भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' अलंकार से सम्मानित किया।

द्विवेदी जी का अध्ययन-क्षेत्र बहुत व्यापक था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बँगला आदि भाषाओ एवं इतिहास, दर्शन, संस्कृति, धर्म आदि विषयों में उनकी विशेष गति थी। इसीलिए उनकी रचनाओं में विषय-प्रतिपादन और शब्द-प्रयोग की विविधता मिलती है।

हिन्दी-निबंधकारों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पश्चात् द्विवेदी जी का प्रमुख स्थान है। वे उच्चकोटि के निबंधकार, आलोचक और उपन्यासकार थे। उनके निबंध 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'कुटज', 'आलोक पर्व' आदि में संकलित हैं। 'सूर-साहित्य', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कालिदास की लालित्य-योजना' आदि उनकी प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। 'चारुचंद्रलेख',

'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' उनके उपन्यास हैं। उनकी सभी रचनाएँ हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली के ग्यारह खंडों में संकलित हैं।

द्विवेदी जी की भाषा सरल होते हुए भी प्रांजल है साथ ही प्रवाहयुक्त और भाव-व्यंजक भी। व्यंग्य शैली के प्रयोग द्वारा उन्होने अपने निबंधो पर पांडित्य के बोझ को हावी नहीं होने दिया है। स्थान-स्थान पर संस्कृत-साहित्य से उद्धरण देकर वे अपनी बात को पुष्ट करते चलते हैं। यह द्विवेदी जी की विशेषता है। भाषा की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी की गद्य-शैली को जो रूप दिया, वह हिन्दी-साहित्य के लिए वरदान-रूप है।

'साहित्य की साधना' एक विचारोतेजक निबंध है जिसमें द्विवेदी जी ने आधुनिक लेखन की स्थिति और नये दायित्व का बोध लेखकों और कवियों को कराया है। आधुनिक साहित्य के लक्ष्य बदल गए है - प्राचीन साहित्य की भाँति यह कल्पना-विलास और रसास्वादन का साधन मात्र नहीं रह गया है, बल्कि प्रजातांत्रिक मूल्यों का संवाहक बन गया है। आज के साहित्य का लक्ष्य सामाजिक मनुष्य का मंगल-विधान करना है। आज के साहित्यकारो को अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच सेतु-निर्माण करके ज्ञान-विज्ञान को सहज-सरस बनाकर जन-जन के लिए सुलभ कराना है। इसके साथ ही लेखक ने अधकचरा साहित्य लेखकों को सावधान भी किया है कि जल्दी में लिया गया निर्णय और जल्दी में लिखा अधकचरा साहित्य प्रजातांत्रिक समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकता है, क्योंकि प्रचार-प्रसार के माध्यम तीव्रगामी हो गए है।

10

साहित्य की साधना

आज साहित्य मनुष्य के अन्य प्रयत्नों से विच्छिन्न और अपने-आपमें स्वतंत्र वस्तु नहीं रह गया है। विभिन्न संघर्षों की चिनगारियों से वह अपने को बचा नहीं सका है और स्वयं का साधन बनने लगा है। जो लोग प्राचीन सरस साहित्य के मर्मज्ञ हैं, जिन्होंने उदार-कल्पनाओं और विदग्ध वाणियों के जादू-भरे उद्यान में शांति की साँस ली है, वे आज के साहित्यिकों की दौड़-धूप और व्यस्तता को देखकर हैरत में आ गए हैं। वे आश्चर्य से देखते हैं कि आज न जाने कौन-सा पागलपन इन साहित्यिकों पर सवार है कि वे हर चिथड़े को बटोर लेना चाहते हैं और गर्व के साथ घोषणा करना चाहते हैं कि वे इन चिथड़ों में आग लगाकर ही दुनिया को रोशनी देंगे। जिन लोगों को प्राचीन साहित्य के रसमय लोक में घूमने का अवसर नहीं मिला, वे भी कम आश्चर्य में नहीं हैं। अपनी बात को अधिक स्पष्ट भाषा में न कहकर वे उदासीनता के साथ कहते हैं – ज़माना बड़ी तेज़ी से भागा जा रहा है। परंतु, कम लोग ही सोचते हैं कि उनके कहने का मतलब क्या है। ज़माना कोई पागल ऊँट नहीं है कि वह तेज़ी से भाग खड़ा होगा। आखिर ज़माने के भागने

का मतलब क्या है? मतलब बहुत स्पष्ट भी नहीं है। जीवन के विभिन्न मूल्यों में नित्य परिवर्तन हो रहे हैं। कल जिसको मनुष्य नगण्य समझता था, आज उसका दाम बढ़ गया है। किसी ज़माने का सुसंस्कृत समझा जाने वाला व्यक्ति वंश-विशेष में उत्पन्न दूसरे व्यक्ति को छू लेने पर गंगास्नान करना आवश्यक समझता था, परंतु आज ऐसा आचरण करनेवाला व्यक्ति असंस्कृत माना जाने लगा है। यही एक उदाहरण नहीं, ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। हर समय मनुष्य इन बदलते हुए मानों के प्रति सचेत नहीं होता। सबकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म भी नहीं होती कि बदलनेवाली गति को पहचान सके। पर एक दिन बदली हुई प्रवृत्ति मन छोड़ने वाली परिस्थिति के रूप में सामने आ जाती है, तो आदमी लाचार होकर कह उठता है – ज़माना बड़ी तेज़ी से बदल रहा है!

साहित्य की दुनिया में भी इन बदलते हुए मानों ने उत्पात मचा रखा है। कठिनाई यह है कि साहित्यिक – यदि वह सचमुच साहित्यिक है – औसत आदमी की अपेक्षा कुछ पहले ही इन परिवर्तनमान मूल्यों का अंदाज़ लगा लेता है। आजकल साहित्य केवल सहृदयों की आलोचना और रसास्वादन की वस्तु नहीं रह गया है। छापे की मशीनों ने इसमें भी प्रजातांत्रिक गंध पैदा कर दी है। अनिवार्य शिक्षा आवश्यक मान ली गई है। उसके साथ-ही-साथ समूची जनता को साहित्य की शिक्षा देने का व्रत भी ले लिया गया है और उस व्रत को कार्यान्वित करने के लिए साहित्य-शिक्षकों की भारी-भरकम पलटन भी तैयार हो रही है। यह अब आवश्यक हो गया है। इसको अब कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह भी ज़माने की तेज़ रफ़्तार है, अर्थात् महाकाल देवता के अप्रतिरोध्य रथचक्र का निमर्म संचालक है, जिसमें कोई ममता नहीं है, कोई दया नहीं है, मनुष्य के कोमल मनोभावों के प्रति कोई आसक्ति नहीं है, कल्पना और भावुकता के द्वारा रचे हुए लोकों के प्रति कोई भावालुता नहीं, वह तेज़ी से दौड़ा जा रहा है और जो

भी उसके पहिये के नीचे आ जाता है, उसे चूर्ण-विचूर्ण करता हुआ आगे बढ़ रहा है – अनिवार्य शिक्षा हो करके ही रहेगी, साहित्य के शिक्षकों की सेना भी भर्ती होकर ही रहेगी और हम मानें, या न मानें, हमें अच्छा लगे या बुरा लगे, साहित्य भी सर्वजन की संपत्ति होकर ही रहेगा। ऐसी अवस्था में ऐसे साहित्य के समालोचक भी पैदा होंगे, जो सच्चे साहित्यिकों की अनुभूति को साधारण औसत आदमी की तरह ही ठीक से न समझकर उदासीनता से कह देंगे – ज़माना है।

लेकिन, कठिनाई यहीं नहीं समाप्त हो जाती। साहित्यिकों में भी पंख खोंसकर बने हुए मोरों की कमी नहीं है। प्रजातांत्रिक साहित्य में यह होगा ही। हवा में उड़ते हुए विचारों को आत्मसात् किए बिना आधुनिक बनने का प्रयत्न बराबर ही होता रहा है, आज भी हो रहा है। यूरोप में मनोविश्लेषण शास्त्र की नई थ्योरी निकलती है और हिन्दुस्तान का अधकचरा साहित्यिक उसको खाकर बिना पचाए ही वमन कर देता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि वह जो-कुछ कहने जा रहा है, वह उसका कहाँ तक अपना है, कहाँ तक उसे वह 'सहज' बना सका है। उसे केवल आधुनिकता का नशा है और किसी प्रकार वह पाँचों सवारों में नाम लिखाना चाहता है। मुझे खुशी है कि हमारे साहित्य में केवल ऐसे अधकचरे लोग ही नहीं हैं, बल्कि ऐसे भी कृती हैं, जिन्होंने इन सिद्धांतों का मंथन किया है, इन्हें पचा लिया है और सहज भाव से इन्हें अपना लिया है। जब ऐसे सच्चे साहित्यकार इन सहज बातों को सहज ढंग से कहने लगते हैं तो उसकी दीप्ति छिपती नहीं है। जैसे पचे हुए भोजन की आभा चेहरे पर कांति के रूप में प्रकट होती है, उसी प्रकार इन साहित्यकारों के नवीन विचार इनके साहित्य में नवीन कांति का रूप धारण करते हैं। वे साहित्य-लक्ष्मी के सौन्दर्य में नए आभरण का योग देते हैं। परंतु इनकी संख्या साहित्य में बहुत कम है। अधिकतर उन्हीं लोगों ने विशिष्ट स्थानों पर अधिकार कर रखा है, जिनका भोजन पचा नहीं है

और जो केवल खट्टी डकारों से वायुमंडल को दूषित कर रहे हैं।

ज्ञान का सहज बनना बहुत आवश्यक है। यदि आपके लिखने में आपका सुचिन्तित मत उसी प्रकार सहज गति से आ रहा है जिस प्रकार माता के दूध में पौष्टिक तत्त्व अनायास आ जाते हैं तो कोई परवाह नहीं। आज के युग में उस लेखक की कोई क़ीमत नहीं, जिसका कोई अपना मत न हो। मत का होना बुरी बात नहीं है। सचाई के साथ अपने विश्वासों को कह देना भी बुरा नहीं है। परंतु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि आज के साधन-संपन्न युग में सभी प्रकार की बातों का फैलाना आसान हो गया है। यदि असावधानी से जल्दी में निर्णय किया हुआ मत या उधार लिया हुआ मत हम प्रचारित करने लगें तो सामाजिक अमंगल की आशंका है।

हमारे देश में साहित्यकारों की एक बड़ी भारी अनुकरणीय परंपरा हमें विरासत में मिली है। वह है ज्ञान के प्रति गंभीर निष्ठा की परंपरा। "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" — ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। साहित्य केवल मन की उमंग में आया हुआ मानसिक उल्लास-मात्र नहीं है। वह एक पवित्र कर्तव्य है। उसे लिखकर मनुष्य वर्तमान और भावी पीढ़ियों को प्रभावित करना चाहता है।

पिछले कुछ वर्षों से हमारे साहित्यकारों के चित्त में जो घोर मंथन हुआ है उसके फलस्वरूप कोई बड़ी कृति लिखी गई है या नहीं, इसका उत्तर भविष्य ही देगा। परंतु एक बात निश्चित-सी लग रही है कि लड़ते-झगड़ते हम लगभग एक निश्चित निर्णय तक पहुँच सके हैं। साहित्यकारों ने यह अनुभव किया है कि हमारे लिखने का लक्ष्य सामाजिक 'मनुष्य' का मंगल-विधान है। मनुष्य एक है। विषमताएँ मनुष्य-मात्र को प्रभावित करती हैं। सारी मनुष्य-जाति को अखंडनीय और अविच्छेदनीय 'एक' मानकर ही हम उस सामाजिक मंगल का मार्ग सोच सकते हैं, जिसे उपलब्ध किए बिना मनुष्यता का त्राण नहीं है। हमने 'मनुष्य' को — सामाजिक

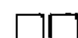
मनुष्य को — इसी मृत्युलोक में सुखी और समृद्ध, अज्ञान और परमुखापेक्षिता से मुक्त बनाने के महान् सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है। व्यक्तिगत संस्कारों और रुचि के कारण हमारे भीतर मतभेद बहुत हैं। पर आज के किसी साहित्यकार से यदि आप कहें कि उसकी रचना सामाजिक मंगल के आदर्श से च्युत है तो वह लज्जित अवश्य होता है और प्रतिवाद करने का प्रयत्न करता है। लजाना बड़े तत्त्व को स्वीकार करने का लक्षण है। आज साहित्य को केवल कल्पना-विलास की सामग्री समझना खतरनाक है। नवीन साहित्यकारों को ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों से रस-संग्रह करने की आवश्यकता है, ज्ञान-विज्ञान — जो देश और काल में व्याप्त है। कबीरदास ने ऐसे ही साधक को शूर कहा था, जो आठों पहर मस्त बना रहता है और अतीत तथा वर्तमान में संचित होने वाली ज्ञान-राशि का सार भाग ग्रहण करता है, उसे सहज बनाकर दुनिया को देता है। जो ऐसा नहीं कर सकता उसकी साधना अधूरी है। नवयुग के साहित्यकारों को इस तत्त्व को बराबर स्मरण रखना चाहिए —

आठहू पहरे मस्तान माना रहे
आठहू पहर की छाक पीवे,
कहै 'कबीर' कोई संतजन सूरमा,
काल निचोड़ि के अमृत पीवे।।

प्रश्न-अभ्यास

1. आपकी दृष्टि से 'ज़माने के भागने का मतलब' का आशय क्या है?
2. "आजकल साहित्य केवल सहृदयों की आलोचना और रसास्वादन की वस्तु नही रह गया है।" लेखक ने ऐसा क्यों कहा है?

3. साहित्य की दुनिया में किन बदलते हुए मानों ने उत्पात मचा रखा है?
4. 'अधकचरा साहित्यिक' लेखन में क्या कमजोरियाँ होती हैं?
5. सामाजिक अमंगल की आशंका के क्या कारण हो सकते हैं तथा सामाजिक मनुष्य के 'मगल-विधान' से क्या आशय है?
6. प्राचीन साहित्य और आधुनिक साहित्य की विषय-वस्तु और वर्णन शैली में अंतर अपने अध्ययन के आधार पर स्पष्ट कीजिए।
7. भाव पल्लवन कीजिए :
   (क) वे हर चिथड़े को बटोर लेना चाहते हैं और गर्व के साथ घोषणा करना चाहते हैं कि वे इन चिथड़ों में आग लगाकर ही दुनिया को रोशनी देंगे।
   (ख) छापे की मशीनों ने इसमें भी प्रजातांत्रिक गंध पैदा कर दी है।
   (ग) लजाना बड़े तत्त्व को स्वीकार करने का लक्षण है।
   (घ) जैसे पचे हुए भोजन की आभा चेहरे पर कांति — नवीन कांति का रूप धारण करती है।
8. निम्नांकित प्रयोगों के भाव और सौन्दर्य को पाठ के अनुसार स्पष्ट कीजिए : उदार कल्पना, विदग्ध वापी, जादू भरे उद्यान, पागल ऊँट, पख खोंसकर बने हुए मोर, पाँचों सवारो में नाम लिखाना।
9. लेखक नवयुग के साहित्यकारों को कबीर जैसे साधक-शूर बनने के लिए क्यों कहता है?
10. "साहित्य मानसिक उल्लास मात्र नहीं, अपितु वह एक पवित्र कर्तव्य है।" इस विषय पर कक्षा में एक परिसंवाद का आयोजन कीजिए।



हरिशंकर परसाई

(जन्म : 22 अगस्त 1922 ई.)

हरिशंकर परसाई का जन्म जिला होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) के जमानी ग्राम में को हुआ। उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. किया। कुछ वर्षों तक अध्यापनकार्य करने के पश्चात् नौकरी का मोह छोड़कर सन् 1947 ई से स्वतंत्र लेखन को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। जबलपुर से **वसुधा** नामक साहित्यक मासिक पत्रिका निकाली जिसे घाटे के बावजूद कई वर्षों तक चलाते रहे। पिछले अनेक वर्षों से हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से व्यंग्य रचनाएँ लिख रहे हैं।

परसाई मुख्यत: व्यंग्य-लेखक हैं, पर उनका व्यंग्य केवल मनोरंजन के लिए नहीं है। उन्होंने अपने व्यंग्य के द्वारा बार-बार पाठकों का ध्यान व्यक्ति और समाज की उन कमजोरियों और विसंगतियों की ओर आकृष्ट किया है जो हमारे जीवन को दूभर बना रही हैं। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं शोषण पर भी करारा व्यंग्य किया है जो हिन्दी व्यंग्य साहित्य में बेजोड़ है। भाषा प्रयोग में परसाई बड़े कुशल हैं। प्राय' बोलचाल के शब्दो का चयन करते हैं पर कहाँ कौन-सा शब्द अधिक अर्थवत्ता प्रदान करेगा उसका ध्यान परसाई जी को सदा रहता है।

परसाई ने लगभग दो दर्जन पुस्तको की रचना की है जिनमें प्रमुख हैं -- हँसते हैं रोते हैं, जैसे उनके दिन फिरे (कहानी संग्रह), रानी नागफनी की कहानी, तट की खोज (उपन्यास), तब की बात और थी, भूत के पाँव पीछे, बेईमानी की परत, पगडंडियों का ज़माना, सदाचार की ताबीज़, शिकायत मुझे भी है, और अंत में (निबंध संग्रह), वैष्णव की फिसलन, तिरछी रेखाएँ, ठिठुरता हुआ गणतंत्र, विकलांग श्रद्धा का दौर (व्यंग्य -

निबंध संग्रह)आदि। 'परसाई रचनावली' के छह भागों में उनका समग्र साहित्य प्रकाशित है।

प्रस्तुत व्यंग्य रचना में परसाई ने रोचक शैली में विभिन्न वर्गों पर विशेषतः वर्तमान लेखको, साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों पर तीव्र प्रहार किया है। सामाजिक बुराइयों का परदाफाश करते हुए लेखक ने अपने जीवन की उनपरिस्थितियों की ओर संकेत किया है, जो उन्हें लेखक बनाने में सहायक हुई। उन्होंने लोकप्रिय उपन्यास लिखने के कुछ फ़ार्मूले दिए हैं जो वस्तुतः उपन्यासकारों पर व्यंग्य हैं। साथ ही संपादको के इशारे पर नाचनेवाले लेखकों को भी आडे हाथों लिया है। अपने मरणोपरांत शोक मनाने के संबंध मे भी परसाई जी ने व्यंग्यात्मक शैली में कुछ हिदायतें दी हैं। उनके इस निवध में हास्य और व्यंग्य का अद्भुत मिश्रण है।

11

ज़िन्दगी और मौत का दस्तावेज़

मेरे दुश्मनो, खुश होने में जल्दी मत करना। अभी वह शुभ क्षण नहीं आया कि मैं मरूँ। मैं जानता हूँ कि तुम एक अरसे से मेरी मृत्यु का शुभ समाचार सुनने को लालायित हो, पर फिलहाल मैं तुम्हें निराश कर रहा हूँ। इंतज़ार करो। किसी दिन सचमुच मरकर तुम पर मेहरबानी करूँगा। दयालु आदमी हूँ। कोशिश करूँगा कि जितनी जल्दी हो सके, तुम्हारी मनोकामना पूरी करूँ। तुम धीरज से प्रार्थना किए जाओ।

और मेरे दोस्तो, रोने की जल्दी मत करो। अभी महेनत से रोने की तैयारी करो। जब मैं सचमुच प्राण-त्याग करूँगा, तब इस बात की आशंका है कि झूठे रोनेवाले सच्चे रोनेवालों से बाज़ी मार ले जाएँगे। तुम अभी से प्रभावकारी ढंग से रोने का अभ्यास करो। एक योजना बनाकर रोने का रिहर्सल करो। जब तुम कह दोगे कि तुम्हारी तैयारी पूरी है, तब मैं फ़ौरन मर जाऊँगा।

अभी तो यारो, दुनिया छोड़ने का अपना क़तई इरादा नहीं है। और फिर कबीर ने कहा है… "जग मरिहैं, हम न मरब।"

तो फिर मैं योंही खामख़्वाह क्यों मर रहा हूँ। असल में मैं जीने के लिए मर रहा हूँ। संपादक चाहते हैं कि मैं मरूँ, तो मर रहा हूँ। पत्रिका मुझे मेरे इस बयान के पैसे देगी। उन पैसों से कुछ समय जिन्दा रहूँगा। संपादकों की बात मैंने कभी नहीं टाली। वे कहें कि रो दो, तो मैं रो पड़ूँगा। वे कहें कि नंगे हो जाओ, तो नंगा हो जाऊँगा। साहित्य में नंगेपन का पेमेण्ट अच्छा होता है।

संपादकों ने कभी कहा था'' इमरजेंसी है तो डरो, मैं डरा। फिर कहा ''इमरजेन्सी की तारीफ में लिखो, मैंने लिखा। ईमान से लिखा। इमरजेन्सी उठी तो कहा''' इमरजेन्सी के खिलाफ़ लिखो, मैंने इमरजेन्सी के खिलाफ भी लिखा। ईमान से लिखा। साथ ही घोषणा भी की कि मै एकमात्र बहादुर बुद्धिजीवी हूँ। बाकी सब कायर हैं। शेर कोई दूसरा मारे, उसकी दुम मैं काट लेता हूँ, यानी मैं प्रतिनिधि बुद्धिजीवी हूँ। बुद्धिजीवी वह होता है जो किसी सत्ता या दाता के हरम की रक्षा करे। राजाओं-नवाबों के हरम की रक्षा करने वाले पौरुषहीन खोज़ा होते थे। तभी वे ठीक रक्षा करते थे। पर जब उनकी ड्यूटी ख़त्म होती थी तब वे तलवार घुमाकर बताते थे कि मैं वीर हूँ। मैंने भी सत्ता और दाता के दो हरमों की तब रक्षा की थी। और अब दूसरी सत्ता और दाता के हरमों की रक्षा कर रहा हूँ। फुरसत में तलवार घुमाकर बहादुर बन जाता हूँ। मै प्रतिनिधि बुद्धिजीवी हूँ।

तो मर रहा हूँ। शुगल के लिए ही सही। कुछ रूमानी होने को जी चाहता है।

मगर हटाओ, नहीं होते रूमानी। गाड़ियाँ लेट चल रही हैं—''खाक़ हो जाएँगे हम उनको ख़बर होने तक।'' तो क्या करूँ। राम का नाम लूँ? ईश्वर को याद करूँ? मैं निरीश्वरवादी रहा। पर मुझे डर लगता है कि कहीं सचमुच कोई ईश्वर हुआ तो मेरी बड़ी दुर्गति करेगा। पर मुझमें साहस नहीं है, वाल्तेयर में था। उसने जीवन भर ईसाइयत के पाखंड पर हमला किया।

मर रहा था तो पादरी आए। वाल्तेयर ने पूछा – क्यों आए? पादरी बोले–तुम्हारी आत्मा की शांति के लिए। वाल्तेयर ने कहा–पर तुम्हें किसने भेजा? पादरी बोले–ईश्वर ने। वाल्तेयर ने उस हालत में भी कहा–अच्छा, तो ईश्वर का पत्र दिखाओ।

नहीं, ऐसा अपने से नहीं बनेगा। न कबीर सरीखा बनेगा कि रहे काशी में और मरने गए मगहर, जहाँ मरने से नरक मिलता है। मैं तो कहता हूँ–ईश्वर, अगर तू नहीं है तो कोई बात नहीं। पर अगर तू है तो हे मालिक, माई-बाप, मुझे माफ करना। मैं तुझे नहीं पहचानता था। मेरी कमज़ोरी है। मैं अपने एरिया के थानेदार को भी नहीं पहचानता था। पर ईश्वर होता भी तो क्या होता? कष्ट भोगते-भोगते तो ज़िन्दगी कटी।

ज़िन्दगी अपनी अब इस तौर से गुज़री ग़ालिब,
हम भी क्या याद करेंगे कि ख़ुदा रखते थे।

घड़ी रखता था, पेन रखता था, चश्मा रखता था। बस ख़ुदा ही नहीं रखता था, क्योंकि उसे रखने की जगह मेरे पास नहीं थी। इस कबाड़खाने में ख़ुदा को तकलीफ़ होती। और फिर ख़ुदा के रखने से फ़ायदा भी क्या होता! मैं कुकर्मी तो रहा नहीं।

बहरहाल, मेरी मौत के बारे में पक्का कर लिया जाए। मेरी ज़िन्दगी में कई चीज़ें होते-होते रह गईं। मेरी शादी दो बार होते-होते रह गई। एक बार पुलिस थानेदार होते-होते रह गया। एक बार शहीद होते-होते रह गया। एक अख़बार ने मेरा फोटो शहीदों में छाप दिया था (बात न खुलती तो अभी ताम्रपत्र व पेन्शन लेता)। दो बार मैं डूबते-डूबते रह गया। एक बार रेलगाड़ी के नीचे आते-आते बचा। एक बार कॉलेज का प्रिन्सिपल होते-होते रह गया।

हो सकता है, इस बार मरते-मरते रह जाऊँ। कहा जाता है कि चीते की जब तक खाल न उतार लो, तब तक यह न मानो कि वह मर गया। ऐसा

ही मेरा हाल है। डाक्टरों से तीन-चार बार जाँच करवाई जाए। हो सकता है डाक्टर सीने पर मेरे दिल की धड़कन देखें, मगर मेरा दिल तब तक टाँगों में पहुँच गया हो। कुछ ठिकाना नहीं है। खूब जाँच की जाए। एक परीक्षा यह भी की जाए: कोई कहे परसाई जी, रायल्टी का चेक आया है। अगर मैं एकदम उठकर न बैठ जाऊँ तो समझा जाए कि पक्का मर गया। फिर भी पक्का करने के लिए मेरी नाक पर सौ का नोट रखा जाए। अगर तब भी न उठूँ तो पक्का मर गया।

इसके बाद 'शोक-प्रदर्शन' शुरू हो सकता है।

इतना बाहर के लिफ़ाफ़े में रहेगा। मौत पक्की होने पर भीतर का लिफ़ाफ़ा खोला जाए, जिसमें यह होगा—

मैं हरिशंकर परसाई पूरे होशोहवास में यह लिख रहा हूँ।

मैं लेखक माना जाता रहा हूँ, पर मैं लेखक अपनी इच्छा से नहीं, मज़बूरी से बना। मैं सरकारी नौकरी में था। मेरा तबादला एक छोटी जगह हो गया। तब तक मैंने कुछ लिखकर छपा लिया था और मैं अपने को बड़ा लेखक मानने लगा था। मैंने सोचा—बड़ा लेखक छोटी जगह क्यों जाए? वह बड़ी जगह में रहेगा। मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। इस्तीफ़ा नहीं देता तो मेरे कर्म ऐसे थे कि डिसमिस होता। अब क्या बचा? नौकरी गई। कुछ करने को नहीं रहा तो लेखक हो गया। ओ हेनरी ग़बन में जेल गया था। जेल ने उसे लेखक बना दिया, बेकारी ने मुझे। मैं और कुछ करने को न होने के कारण लिखने का काम करने लगा। दूसरा कारण था—रोज़ी-रोटी कमाना। कुछ वर्षों में साहित्य के और मेरे साथ एक दुर्घटना घटी—मैं लेखक मान लिया गया। यह लेखकपन, जो मेरे सिर पर लाद दिया गया, एक बोझ बन गया, मैं इसे ढोने को मज़बूर था। मैं कुछ और तो बना नहीं था, केवल लेखक बना था, तो जो बना दिया गया उसे निभाना एक मज़बूरी हो गई।

दूसरी घटना हुई—मुझे व्यंग्य-लेखक माना जाने लगा और यह कहा

जाने लगा कि मैं हिन्दी में व्यंग्य के अभाव को दूर कर रहा हूँ। मैंने मूर्खतावश इसे भी गंभीरता से ले लिया। तीसरी दुर्घटना हुई—कहा जाने लगा कि मैं सामाजिक चेतना संपन्न लेखक हूँ। मैंने इसे भी मान लिया। देखिए, एक भोले-भाले आदमी की ज़िन्दगी किस तरह बरबाद की जाती है। मुझमें पुलिस के संस्कार और प्रकृति थी ही। सामाजिक चेतना संपन्न लेखक कहा जाने लगा तो मैं साहित्य में थानेदार हो गया। सोचने लगा, समाज को मैं ही सुधारूँगा, मैं कानून और व्यवस्था स्थापित करूँगा, गुंडा तत्त्वों को उखाड़ फेकूँगा। अब गुंडों से निबटने के लिए पुलिसवाले को खुद बड़ा गुंडा होना पड़ता है। तो आगे चलकर मैं साहित्य में निरा गुंडा रह गया।

मुझे ज्ञानियों ने लगातार सलाह दी कि कुछ शाश्वत लिखो। ऐसा लिखो, जो अमर रहे। ऐसी सलाह देने वाले कभी के मर गए। मैं ज़िन्दा हूँ, क्योंकि जो मैं आज लिखता हूँ, कल मर जाता है। लेखकों को मेरी सलाह है कि ऐसा सोचकर कभी मत लिखो कि मैं शाश्वत लिख रहा हूँ। शाश्वत लिखनेवाले तुरंत मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अपना लिखा जो रोज़ मरता देखते हैं, वही अमर होते हैं।

जो अपने युग के प्रति ईमानदार नहीं है वह अनंतकाल के प्रति क्या ईमानदार होगा!

मैंने एक गलती और की। साहित्य को सीढ़ी मानना चाहिए। मैंने उसे छज्जा मान लिया और ज़िन्दगी भर सीढ़ी पर बैठा-बैठा छज्जों को देखता रहा। लोग मेरे सामने ही साहित्य की सीढ़ी से चढ़कर छज्जों पर जा बैठे। कोई बड़ा अफ़सर हो गया, कोई बड़ा संपादक, कोई विदेश विभाग में, कोई सांस्कृतिक सलाहकार। कई प्रकाशक हो गए। उन्होंने साहित्य की सीढ़ी से छलाँग लगाई और छज्जे पर जा बैठे। मैं सीढ़ी पर बैठा रहा। मेरे अग़ल-बगल से लोग सीढ़ी चढ़ते जाते रहे— ऊँचे और ऊँचे।

मैंने व्यंग्य लिखा। पर वह ज़रा कठिन हो गया। मुझे हँसोड़, मसखरा, जोकर होना था। तब अधिक सफल होता। मेरे सामने ही लोग यश लूटते रहे और पैसा भी। वे हास्यरस भी नहीं, हास्यास्पद रस के लोग थे। एक हास्यरस के कवि थे। उनकी कविता में 'कुत्ता' शब्द आ जाता तो वे भौंक पड़ते और लोग खूब हँसते। उन्हें बहुत पैसे मिलते। पर मैं तो इस ऐंठ में रहा कि समाज के तल में जाकर परीक्षण करूँगा। और समाज-परिवर्तन के लेख लिखूँगा। मैं साहित्य में आर्यसमाजी हो गया। इससे अच्छा होता, मैं केवल 'कॉमिक' लिखता और करता।

अच्छा लिखने की मेरी प्रबल इच्छा थी, पर अब वह धरी रह गई। मैंने कई बार बड़ा और श्रेष्ठ उपन्यास लिखने की कोशिश की। इसके दो कारण थे। एक तो उपन्यास लिखे बिना कोई पक्का लेखक नहीं बन सकता। दूसरे, उपन्यास पकौड़े की तरह बिकता है। खूब पैसे मिलते हैं। लोकप्रिय उपन्यास के फार्मूले होते हैं। एक ही स्त्री को कभी नर्स, कभी शिक्षिका, कभी क्लर्क, कभी टेलीफोन-ऑपरेटर बना दो। दो-चार रोचक उपन्यास हो गए।

विवाहित पुरुष दूसरी स्त्री से प्रेम करता है, मगर पत्नी और समाज बाधक है। ऐसे में पत्नी से बलिदान करा दो। सारे पुरुष खुश। बढ़िया उपन्यास। स्त्री परपुरुष से प्रेम करती है। बाधक पति और समाज है। ऐसे में पति से बलिदान करा दो। सारी स्त्रियाँ खुश। फ़र्स्ट क्लास उपन्यास। ऐसे वाक्य हों – ''प्रिय, मैं निशा के प्रति तुम्हारी लगन को जानती हूँ। तुम्हारे पवित्र प्रेम में मैं बाधक नहीं बनूँगी। मैं आत्महत्या कर लेती हूँ।'' या फिर – ''प्रिये, नरेश के प्रति तुम्हारे अंतर के भाव मैं समझता हूँ। पवित्र प्रेम से प्रेरित दो व्यक्तियों के रास्ते में नहीं आना चाहता। मैं आत्महत्या कर लेता हूँ।'' बढ़िया कथा।

मैंने प्रेम-उपन्यास लिखने की कोशिश की, पर मेरे प्रेमी-प्रेमिका एक

बार बिछुड़ते तो उनके मिलन का संयोग ही मैं नहीं बना पाता। मैंने पाँच उपन्यास आरंभ किए, पर आगे नहीं बढ़ा पाया। चाहता हूँ, इन अंशों का संग्रह छप जाए। शीर्षक हो: पाँच असफल उपन्यासों का आरंभ।

अब जब वह तय ही हो गया, तो मरणोपरांत क्या होना है इसकी हिदायतें देना चाहिए।

पहली बात तो यह है कि मेरी मृत्यु के कारणों की जाँच होनी चाहिए। यह जाँच होनी चाहिए कि क्या मेरा इलाज ठीक हुआ। ऐसा मैं इसलिए चाहता हूँ कि कुछ समय तक अखबारों में मेरा नाम चलता रहेगा। विवादास्पद मृत्यु यश फैलाती है। मैं मामूली मौत मरना भी नहीं चाहता था। डाक्टर मुझे माफ़ करें। मैं यशलोलुप हूँ।

मेरे बारे में अखबारों में क्या छपे, यह मैं खुद तैयार करके रखे जा रहा हूँ। मुझे किसी पर भरोसा नहीं। ये लेख दूसरों के नाम से छापे जाएँ। अपने कई फोटोग्राफ मैंने रख छोड़े हैं। ये छापे जाएँ।

मेरी शोकसभा शानदार हो। बैंक में मेरा कुछ रुपया जमा है। इस पैसे से शोकसभा का प्रबंध करना चाहिए। हो सका तो मैं कुछ देर छुट्टी लेकर अपनी शोकसभा देखने आऊँगा। अगर कुछ कमी हुई तो आयोजकों के सिरों पर भूत बनकर चढ़ जाऊँगा।

मित्रों से मेरा यह आग्रह है कि जैसे जीवन में उन्होंने मेरा साथ दिया, वैसे ही मौत के बाद दें। मेरा यह मतलब नहीं है कि वे भी जल्दी ही मेरे पास आ जाएँ। वे जिएँ। मित्रों ने मुझे बहुत बरदाश्त किया, बहुत सहा, बहुत माफ किया। ऐसे मित्र दुर्लभ हैं, पर वे अब मेरे यश को स्थायी बनाने के लिए जो बन सके, करें। मेरे बारे में संस्मरण लिखें, जिनमें मेरी कमज़ोरियों का ज़िक्र न करें। मुझे एक साधु या महामानव बना दें।

मेरी हैसियत होती, तो मैं जीवनकाल में ही अपना अभिनंदन-ग्रंथ छपवाकर किसी बड़े आदमी के करकमलों से ले लेता। साहित्य में मेरे

बुज़ुर्गों ने ऐसा किया है कि अपना अभिनंदन-ग्रंथ खुद तैयार करके ग्रहण कर लिया। मैं पैसे से मारा गया। पर मेरे मित्र अब मेरा स्मृतिग्रंथ ज़रूर निकालें। इसके लिए वे चंदा करें और पैंतीस प्रतिशत खा जाएँ। यदि वे चंदा नहीं खाएँगे तो मेरी आत्मा को पीड़ा होगी। मैंने खुद कई बार चंदा किया था और कमीशन खाया था। इसे चंदे की पवित्रता बनी रही।

पंडित नेहरू ने अपनी वसीयत में गंगा की कवित्वमय महिमा गाई थी और लिखा था कि मेरी अस्थियाँ प्रयाग (गंगा) में विसर्जित की जाएँ। मैं गंगा में डर और ठंड के मारे कभी नहीं नहाया। नर्मदा तो मेरे पास ही है। उसमें भी नहीं नहाया। बचपन में मैं नर्मदा में डूबते-डूबते बच गया था। ज़्यादा नहाने से प्रतिभा कम हो जाती है। जिस घर में मैं रहा, उसके पास एक गंदा नाला है 'ओमती'। यह नाला सारे शहर की गंदगी और गंदा पानी लेकर बहता है। बरसात में यह नाला मेरी सीढ़ियों तक आ जाता है और मैला उस पर उतराता है। इसे पार करके सड़क तक जाने में नरक का अनुभव हो जाता है। यह नाला मच्छर भी मुझे सप्लाई करता रहा है। इस नाले से मेरा आत्मिक संबंध रहा है। मेरी अस्थियाँ इसी नाले में विसर्जित की जाएँ।

मेरा स्मारक ज़रूर बनवाया जाए, पर इसका डिज़ाइन साधारण नहीं होना चाहिए। ग़ालिब की याद में जो ग़ालिब अकादमी बनी है, उसका बाथरूम भी अगर उसे रहने को मिल जाता तो वह निहाल हो जाता। ऐसा विरोधाभास नहीं होना चाहिए। मैं ज़िन्दगी-भर जिस मकान में रहा वह बरसात में इतना टपकता था कि सोने के लिए कोना ढूँढ़ना पड़ता था। मेरा स्मारक भी ऐसा ही बने। उसकी छत ऐसी हो कि बरसात में पानी भीतर आए। उसकी कभी पुताई और मरम्मत न की जाए। इस स्मारक के अहाते में बबूल के झाड़ लगाए जाएँ। रातरानी वगैरह के पौधे लगाए गए तो मेरी आत्मा को शांति नहीं मिलेगी। मैंने ज़िन्दगी-भर बबूल और भटकैया पसंद की थी।

मेरी कोई संतान नहीं है, क्योंकि उनकी माँ ही नहीं थी। मेरे वारिस मेरे भानजेभानजी होंगे। इनमें रायल्टी को लेकर झगडा न हो, इसलिए मेरे मरने के बाद मेरी पुस्तकें कभी न छापी जाएँ। मैं नहीं चाहता कि ऐसा कुत्सित, ध्वंसकारी, नकारात्मक साहित्य लोग पढ़ें और बिगड़ें। मेरा यश मेरे लिखे हुए से बना नहीं रहेगा। इसलिए जिससे मेरा यश बना रहे वह रहस्य खोल रहा हूँ। यह रहस्य मैंने अभी तक नहीं खोला। पर अब मरते वक़्त झूठ नहीं बोलूँगा। लोग इस पर विश्वास करें। वह रहस्य है—

मोहन राकेश और फणीश्वरनाथ रेणु के नाम से मैं ही लिखता था। ये दोनों उपनाम थे।

और क्या कहूँ। कुछ लोग मेरे लिए रोने के 'मूड' में होंगे। वे आँसू बरबाद न करें। किसी और के लिए बचा रखें।

प्रश्न-अभ्यास

1. इस पाठ को लिखने में लेखक का मूल उद्देश्य क्या हैं? सही विकल्प पर सही (√) का निशान लगाइए :
   (क) विभिन्न वर्गों में व्याप्त बुराइयों को उजागर करना।
   (ख) अपनी उपलब्धियों का प्रचार करना।.
   (ग) अपनी मृत्यु के लिए अपने मित्रों को इंतज़ार की सलाह देना।
   (घ) अपने साथ हुई दुर्घटनाओं का वर्णन करना।
2. लेखक ने वाल्टेयर और कबीर का उल्लेख किस प्रसंग में किया है? और क्यों?
3. मृत्यु की पुष्टि के लिए लेखक ने कौन-कौन-से उपाय सुझाए हैं और इनके द्वारा लेखकों की किस मनोवृत्ति को उभारा है?
4. जीने के लिए किस प्रकार मरा जा सकता है?
5. जिन परिस्थितियों ने उन्हें लेखक बनाया उन्हे परसाई जी ने दुर्घटना क्यों कहा है?

6. लेखक ने लोकप्रिय उपन्यास लिखने के क्या फ़ार्मूले दिए हैं। इन फार्मूलों में निहित व्यंग्य स्पष्ट कीजिए।
7. "शेर कोई दूसरा मारे उसकी दुम मैं काट लेता हूँ।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
8. "मोहन राकेश और फणिश्वर नाथ रेणु के नाम से मैं ही लिखता था।" क्या लेखक का यह कथन सत्य है, यदि नहीं तो फिर लेखक ने ऐसा क्यों कहा?
9. अपनी मृत्यु के उपरांत अस्थियों के विसर्जन, स्मारक-निर्माण आदि के संबंध में लेखक द्वारा व्यक्त की गई इच्छाओं में निहित व्यंग्य स्पष्ट कीजिए।
10. पाठ में हास्य और व्यंग्य उभारने के लिए लेखक ने जो युक्तियाँ अपनाई हैं, उन्हें सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
11. हिन्दी के व्यंग्य साहित्य का अध्ययन करके प्रमुख व्यंग्य लेखकों का संक्षिप्त परिचय साथियों को दीजिए।

□□

उषा प्रियंवदा

(जन्म: 24 दिसंबर, 1931 ई.)

श्रीमति उषा प्रियंवदा का जन्म इलाहाबाद में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने कुछ समय तक वहीं अंग्रेज़ी विभाग में अध्यापन किया। तत्पश्चात् संयुक्त राज्य अमरीका के इंडियाना विश्वविद्यालय में आधुनिक अमरीकी साहित्य पर शोध कार्य किया। संप्रति अमरीका में ही विस्कांसिन विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष पद पर कार्य कर रही हैं।

उषा प्रियंवदा आज की एक सशक्त कहानी लेखिका हैं। उन्होंने सामाजिक विसंगतियो को परखा है। साथ ही इनमे घटनाओ की सूक्ष्म पकड़ भी है। इनके तीन कहानी संग्रह कितना बड़ा झूठ, ज़िन्दगी और गुलाब के फूल, फिर वसंत आया तथा दो उपन्यास पचपन खंभे लाल दीवार और रुकोगी नहीं राधिका प्रकाशित हो चुके हैं।

वापसी कहानी उषा प्रियंवदा की एक प्रतिनिधि कहानी है। कहानी के नायक गजाधर बाबू रानीपुर नामक एक छोटे-से रेलवे स्टेशन के स्टेशन मास्टर के पद से अवकाश पाने के पश्चात् घर लौटते हैं। उन्हें बहुत खुशी हो रही है कि उनके पहुँचते ही उनकी पत्नी, पुत्र एवं पुत्रवधू अत्यंत प्रसन्न होंगे, किन्तु उनके पहुँचते ही घर के लोगों की दिनचर्या रुक जाती है। उन्हें लगता है कि वे अपने घर में नहीं हैं। कहानी मूलत: मनोवैज्ञानिक है। लेखिका को आधुनिक पारिवारिक स्थितियों को प्रस्तुत करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

12

वापसी

गजाधर बाबू ने कमरे में जमा सामान पर एक नज़र दौड़ाई— दो बक्स, डोलची, बाल्टी। "यह डिब्बा कैसा है, गनेशी?" उन्होंने पूछा। गनेशी बिस्तर बाँधता हुआ,. कुछ गर्व, कुछ दु:ख, कुछ लज्जा से बोला, "घरवाली ने साथ में कुछ बेसन के लड्डू रख दिए हैं। कहा, बाबूजी को पसंद थे, अब कहाँ हम ग़रीब लोग आपकी कुछ ख़ातिर कर पाएँगे।" घर जाने की ख़ुशी में भी गजाधर बाबू ने एक विषाद का अनुभव किया, जैसे एक परिचित, स्नेह, आदरमय, सहज संसार से उनका नाता टूट रहा था।

"कभी-कभी हम लोगों की ख़बर लेते रहिएगा।" गनेशी बिस्तर में रस्सी बाँधता हुआ बोला।

"कभी कुछ ज़रूरत हो तो लिखना गनेशी, इस अगहन तक बिटिया की शादी कर दो।"

गनेशी ने अंगौछे के छोर से आँखें पोंछीं, "अब आप लोग सहारा न देंगे, तो कौन देगा। आप यहाँ रहते तो शादी में कुछ हौसला रहता।"

गजाधर बाबू चलने को तैयार बैठे थे। रेलवे क्वार्टर का वह कमरा

जिसमें उन्होंने कितने वर्ष बिताए थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और नग्न लग रहा था। आँगन में रोपे पौधे भी जानपहचान के लोग ले गए थे, और जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी व बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह विछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर विलीन हो गया।

गजाधर बाबू खुश थे, पैंतीस साल की नौकरी के बाद वह रिटायर होकर जा रहे थे। इन वर्षों में अधिकांश समय उन्होंने अकेले रहकर काटा था। उन अकेले क्षणों में उन्होंने इसी समय की कल्पना की थी, जब वह अपने परिवार के साथ रह सकेंगे। इसी आशा के सहारे वह अपने अभाव का बोझ ढो रहे थे। संसार की दृष्टि में उनका जीवन सफल कहा जा सकता था। उन्होंने शहर में एक मकान बनवा लिया था, बड़े लड़के अमर और लड़की कांति की शादियाँ कर दी थी, दो बच्चे ऊँची कक्षाओं में पढ़ रहे थे। गजाधर बाबू नौकरी के कारण प्रायः छोटे स्टेशनों पर रहे, और उनके बच्चे और पत्नी शहर में, जिससे पढ़ाई में बाधा न हो। गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे, और स्नेह के आकांक्षी भी। जब परिवार साथ था, ड्यूटी से लौटकर बच्चों से हँसते-बोलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते। उन सबके चले जाने से उनके जीवन में गहन सूनापन भर उठा। खाली क्षणों में उनसे घर में टिका न जाता। कवि प्रकृति के न होने पर भी उन्हें पत्नी की स्नेहपूर्ण बातें याद आती रहतीं। दोहपर में गरमी होने पर भी, दो बजे तक आग जलाए रहती और उनके स्टेशन से वापस आने पर गरम-गरम रोटियाँ सेंकती, उनके खा चुकने और "मना करने पर भी थोड़ा-सा कुछ और थाली में परोस देती, और बड़े प्यार से आग्रह करती। जब वह थके-हारे बाहर से आते, तो उनकी आहट पर वह रसोई के द्वार पर निकल आती, और उनकी सलज्ज आँखें मुसकरा उठतीं।" गजाधर बाबू को तब हर छोटी बात भी याद आती और उदास हो उठते··· अब कितने वर्षों बाद वह अवसर आया था

जब वह फिर उसी स्नेह और आदर के मध्य रहने जा रहे थे।

टोपी उतारकर गजाधर बाबू ने चारपाई पर रख दी, जूते खोलकर नीचे खिसका दिए, अंदर से रह-रहकर कहकहों की आवाज़ आ रही थी, इतवार का दिन था और उनके सब बच्चे इकट्ठे होकर नाश्ता कर रहे थे। गजाधर बाबू के सूखे चेहरे पर स्निग्ध मुसकान आ गई। उसी तरह मुसकाते हुए, वह बिना खाँसे हुए अंदर चले गए, उन्होंने देखा कि नरेन्द्र कुमार कमर पर हाथ रखे शायद गत रात्रि की फिल्म में देखे गए किसी नृत्य की नकल कर रहा था, और बंसती हँस-हँस कर दुहरी हो रही थी। अमर की बहू को अपने तन-बदन, आँचल या घूँघट का कोई होश न था और वह उन्मुक्त रूप से हँस रही थी। गजाधर बाबू को देखते ही नरेन्द्र धप से बैठ गया और चाय का प्याला उठाकर मुँह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट से माथा ढँक लिया, केवल बंसती का शरीर रह-रह कर हँसी के प्रयत्न में हिलता रहा।

गजाधर बाबू ने मुसकराते हुए उन लोगों को देखा। फिर कहा, "क्यों नरेन्द्र क्या नकल हो रही थी?"

"कुछ नहीं, बाबूजी।" नरेन्द्र ने सिटपिटा कर कहा। गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनोविनोद में भाग लेते, पर उनके आते ही जैसे सब कुंठित हो चुप हो गए। इससे उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आई। बैठते हुए बोले, "बसंती, चाय मुझे भी देना। तुम्हारी अम्मा की पूजा अभी चल रही है क्या?"

बसंती ने माँ की कोठरी की ओर देखा, अभी आती ही होंगी, और प्याले में उनके लिए चाय छानने लगी। बहू चुपचाप पहले ही चली गई थी, अब नरेन्द्र भी चाय का आखिरी घूँट पीकर उठ खड़ा हुआ। केवल बसंती, पिता के लिहाज़ में, चौके में बैठी माँ की राह देखने लगी। गजाधर बाबू ने एक घूँट चाय पी, फिर कहा, "बेटी, चाय तो फीकी है।"

"लाइए, चीनी और डाल दूँ।" बसंती बोली।

"रहने दो, तुम्हारी अम्मा जब आएगी, तभी पी लूँगा।"

थोड़ी देर में उनकी पत्नी हाथ में अर्घ्य का लोटा लिए निकलीं और अशुद्ध स्तुति कहते हुए तुलसी में डाल दिया। उन्हें देखते ही बसंती भी उठ गई। पत्नी ने आकर गजाधर बाबू को देखा और कहा, "अरे आप अकेले बैठे हैं, ये सब कहाँ गए?" गजाधर बाबू के मन में फाँस-सी कसक उठी, "अपने-अपने काम लग गए हैं आख़िर बच्चे ही हैं।"

पत्नी आकर चौके में बैठ गईं। उन्होंने नाकभौंह चढ़ाकर चारों ओर जूठे बर्तनों को देखा। फिर कहा, "सारे जूठे बर्तन पड़े हैं। इस घर में धरम-करम कुछ नहीं। पूजा करके सीधे चौके में घुसो।" फिर उन्होंने नौकर को पुकारा, जब उत्तर न मिला तो एक बार और उच्च स्वर में, फिर पति की ओर देखकर बोली, "बहू ने भेजा होगा बाज़ार।" और एक लंबी साँस लेकर चुप हो रहीं।

गजाधर बाबू बैठकर चाय और नाश्ते का इंतज़ार करते रहे। उन्हें अचानक ही गनेशी की याद आ गई। रोज़ सुबह, पैसेंजर आने से पहले, वह गरम-गरम पूरियाँ और जलेबी बनाता था। गजाधर बाबू जब तक उठकर तैयार होते, उनके लिए जलेबियाँ और चाय लाकर रख देता था। चाय भी कितनी बढ़िया, काँच के गिलास में ऊपर तक भरी लबालब, पूरे ढाई चम्मच चीनी, और गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुँचे, गनेशी ने चाय पहुँचाने में कभी देर नहीं की। क्या मजाल कि कभी उससे कुछ कहना पड़े।

पत्नी का शिकायत भरा स्वर सुन उनके विचारों में व्याघात पहुँचा। वह कह रही थी, "सारा दिन इसी खिच-खिच में निकल जाता है। इसी गृहस्थी का धंधा पीटते-पीटते उम्र बीत गई। कोई ज़रा हाथ भी नहीं बँटाता।"

"बहू क्या किया करती है?" गजाधर बाबू ने पूछा।

"पड़ी रहती है। बसंती से कहो तो, कहेगी कि कॉलेज जाना होता है।"

गजाधर बाबू ने जोश में आकर बसंती को आवाज़ दी। बसंती भाभी के कमरे से निकली तो गजाधर बाबू ने कहा, "बसंती, आज से शाम का खाना बनाने की ज़िम्मेदारी तुम पर है। सुबह का भोजन तुम्हारी भाभी बनाएगी।"

बसंती मुँह लटकाकर बोली, "बाबूजी, पढना भी तो होता है।"

गजाधर बाबू ने बड़े प्यार से समझाया, "तुम सुबह पढ़ लिया करो। तुम्हारी माँ बूढ़ी हुईं, उनके शरीर में अब वह शक्ति नहीं बची है। तुम हो तुम्हारी भाभी हैं, दोनों को मिलकर काम में हाथ बँटाना चाहिए।"

बसंती चुप रह गई। उसके जाने के बाद, उसकी माँ ने धीरे से कहा, "पढ़ने का तो बहाना है। कभी जी ही नहीं लगता। लगे कैसे? शीला से ही फ़ुरसत नहीं। बड़े-बड़े लड़के हैं उस घर में। हर वक़्त वहाँ घुसे रहना मुझे नहीं सुहाता। मना करूँ तो सुनती नहीं।"

घर में गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थाई प्रबंध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गई थी। गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े कभी-कभी अनायास ही, इस अस्थायित्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद हो आती उन रेलगाड़ियों की, जो आतीं और थोड़ी देर रुककर किसी और लक्ष्य की ओर चली जातीं।

घर छोटा होने के कारण बैठक में ही अब वह प्रबंध किया गया था। उनकी पत्नी के पास अंदर एक छोटा कमरा अवश्य था, पर वह एक ओर अचारों के मर्तबानों, दाल, चावल के कनस्तरों और घी के डिब्बों से घिरा था– दूसरी ओर पुरानी रजाइयाँ, दरियों में लिपटी और रस्सी से बँधी रखी

थीं, उसके पास एक बडे-से टीन के बक्स में घर-भर के गरम कपड़े थे। बीच में एक अलगनी बँधी हुई थी, जिस पर प्रायः बंसती के कपड़े लापरवाही से पड़े रहते थे। वह भरसक उस कमरे में नहीं जाते थे। घर का दूसरा कमरा अमर और उसकी बहू के पास था। तीसरा कमरा, जो सामने की ओर था, बैठक था। गजाधर बाबू के आने से पहले उसमें अमर की ससुराल से आया बेंत की तीन कुर्सियों का सेट पड़ा था। कुर्सियों पर नीली गद्दियों और बहू के हाथों के कढ़े कुशन थे।

जब कभी उनकी पत्नी को कोई लंबी शिकायत करनी होती, तो अपनी चटाई बैठक में डाल पड़ जाती थीं। तो वह एक दिन चटाई लेकर आ गईं। गजाधर बाबू ने घरगृहस्थी की बातें छेड़ीं, वह घर का रवैया देख रहे थे। बहुत हलके से उन्होंने कहा कि अब हाथ में पैसा कम रहेगा, कुछ ख़र्च कम होना चाहिए।

"सभी ख़र्च तो वाजिब-वाजिब हैं, किसका पेट काटूँ? यही जोड़ गाँठ करते-करते बूढ़ी हो गई, न मन का पहना, न ओढ़ा।"

गजाधर बाबू ने आहत विस्मित दृष्टि से पत्नी को देखा। उनसे अपनी हैसियत छिपी न थी। उनकी पत्नी तंगी का अनुभव कर उसका उल्लेख करती, यह स्वाभाविक था, लेकिन उसमें सहानुभूति का पूर्ण अभाव गजाधर बाबू को बहुत खटका। उनसे यदि राय-बात की जाती कि प्रबंध कैसे हो, तो उन्हें चिन्ता कम, संतोष अधिक होता। लेकिन उनसे तो केवल शिकायत की जाती थी जैसे परिवार की सब परेशानियों के लिए वही ज़िम्मेदार थे।

"तुम्हें किस बात की कमी है, अमर की माँ? घर में बहू है, लड़के-बच्चे हैं, सिर्फ़ रुपये से ही आदमी अमीर नहीं होता।" गजाधर बाबू ने कहा और कहने के साथ ही अनुभव किया कि यह उनकी आंतरिक अभिव्यक्ति थी, ऐसी कि उनकी पत्नी नहीं समझ सकती, "हाँ, बड़ा सुख है न बहू से!

आज रसोई करने गई है, देखो क्या होता है।'' कहकर पत्नी ने आँखें मूँदी, और सो गईं। गजाधर बाबू बैठे हुए पत्नी को देखते रह गए। यही थी क्या उनकी पत्नी, जिसके हाथों के कोमल स्पर्श, जिसकी मुसकान की याद में उन्होंने सपूर्ण जीवन काट लिया था। उन्हें लगा कि वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गई और उसकी जगह आज जो स्त्री है, वह उनके मन और प्राणों के लिए नितांत अपरिचित है। गाढ़ी नींद में डूबी उनकी पत्नी का भारी-सा शरीर बहुत बेडौल और कुरूप लग रहा था, चेहरा श्रीहीन और रूखा था। गजाधर बाबू देर तक निस्संग दृष्टि से पत्नी को देखते रहे और फिर लेटकर छत की ओर ताकने लगे।

अंदर कुछ गिरा और उनकी पत्नी हड़बड़ाकर उठ बैठी, ''लो, बिल्ली ने कुछ गिरा दिया शायद,'' और वह कह अंदर भागीं। थोड़ी देर में लौटकर आईं तो उनका मुँह फूला हुआ था, ''देखो बहू को, खुला छोड़ आई, बिल्ली ने दाल की पतीली गिरा दी। सभी तो खाने को हैं, अब क्या खिलाऊँगी?'' वह साँस लेने को रुकीं और बोलीं, ''एक तरकारी और चार पराँठे में सारा डिब्बा घी उड़ेलकर रख दिया। ज़रा-सा दर्द नहीं है, कमाने वाला हाड़ तोड़े और यहाँ चीज़ें लुटें। मुझे तो मालूम था कि यह सब काम किसी के वश का नहीं है।''

गजाधर बाबू को लगा कि पत्नी कुछ और बोलेंगी तो उनके कान झनझना उठेंगे। होंठ भींच, करवट लेकर उन्होंने पत्नी की ओर पीठ कर ली।

रात का भोजन बसंती ने जान-बूझकर ऐसा बनाया था कि कौर तक निगला न जा सके। गजाधर बाबू खाकर उठ गए, पर नरेन्द्र थाली सरकाकर उठ खड़ा हुआ और बोला, ''मैं ऐसा खाना नहीं खा सकता।''

बसंती तुनककर बोली, ''तो न खाओ, कौन तुम्हारी खुशामद करता है?''

"तुमसे खाना बनाने को कहा किसने था?" नरेन्द्र चिल्लाया।

"बाबूजी ने।"

"बाबूजी को बैठे-बैठे यही सूझता है।"

बसंती को उठाकर माँ ने नरेन्द्र को मनाया और अपने हाथ से कुछ बनाकर खिलाया। गजाधर बाबू ने बाद में पत्नी से कहा, "इतनी बड़ी लड़की हो गई ओर उसे खाना बनाने तक का शऊर नहीं आया?"

"अरे आता सब कुछ है, करना नहीं चाहती।" पत्नी ने उत्तर दिया। अगली शाम माँ को रसोई में देख, कपड़े बदलकर बसंती बाहर आई तो बैठक से गजाधर बाबू ने टोक दिया, "कहाँ जा रही हो?"

"पड़ोस में, शीला के घर।" बसंती ने कहा।

"कोई ज़रूरत नहीं है, अंदर जाकर पढ़ो।" गजाधर बाबू ने कड़े स्वर में कहा। कुछ देर अनिश्चित खड़े रहकर बंसती अंदर चली गई। गजाधर बाबू शाम को रोज़ टहलने चले जाते थे, लौटकर आए तो पत्नी ने कहा, "क्या कह दिया बसंती से? शाम से मुँह लपेटे पड़ी है। खाना भी नहीं खाया।"

गजाधर बाबू खिन्न हो आए। पत्नी की बात का उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि बंसती की शादी जल्दी ही कर देनी है। उस दिन के बाद बसंती पिताजी से बची-बची रहने लगी। जाना होता, पिछवाड़े से जाती। गजाधर बाबू ने दो-एक बार पत्नी से पूछा तो उत्तर मिला, "रूठी हुई है।" गजाधर बाबू को और रोष हुआ। लड़की के इतने मिज़ाज! जाने को रोक दिया तो पिता से बोलेगी नहीं? फिर उनकी पत्नी ने ही सूचना दी कि अमर अलग रहने की सोच रहा है।

"क्यों?" गजाधर बाबू ने चकित होकर पूछा।

पत्नी ने साफ़-साफ़ उत्तर नहीं दिया। अमर और उसकी बहू की शिकायतें बहुत थीं। उनका कहना था कि गजाधर बाबू हमेशा बैठक में ही

पड़े रहते हैं, कोई आने-जाने वाला हो तो कहीं बैठाने की जगह नहीं। अमर को अब भी वह छोटा-सा समझते थे और मौके-बेमौके टोक देते थे। बहू को काम करना पड़ता था और सास जब-तब फूहड़पन पर ताने देती रहती थी। "हमारे आने के पहले भी कभी ऐसी बात हुई थी?" गजाधर बाबू ने पूछा। पत्नी ने सिर हिलाकर जताया, "नहीं"। पहले अमर घर का मालिक बनकर रहता था, बहू को कोई रोक-टोक न थी। अमर के दोस्तों का प्रायः यहीं अड्डा जमा रहता था और अंदर से नाश्ता-चाय तैयार होकर जाता रहता था। बसंती को भी वही अच्छा लगता था।

गजाधर बाबू ने बहुत धीरे से कहा, "अमर से कहो, जल्दीबाज़ी की कोई ज़रूरत नहीं है।"

अगले दिन वह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है। अंदर आकर पूछने वाले ही थे कि उनकी दृष्टि रसोई के अंदर बैठी पत्नी पर पड़ी। उन्होंने यह कहने को मुँह खोला कि बहू कहाँ है, पर कुछ याद कर चुप हो गए। पत्नी की कोठरी में झाँका तो अचार, रजाइयों और कनस्तरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पाई। गजाधर बाबू ने कोट उतारा और कहीं टाँगने को दीवार पर नज़र दौड़ाई। फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपड़े खिसकाकर, एक किनारे टाँग दिया। कुछ खाए बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गए। कुछ भी हो, तन आखिरकार बूढ़ा ही था। सुबह-शाम कुछ दूर टहलने अवश्य चले जाते, पर आते-आते थक जाते थे। गजाधर बाबू को अपना बड़ा-सा खुला हुआ क्वार्टर याद आ गया। निश्चिंत जीवन, सुबह पैसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन की चहल-पहल, चिरपरिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पहियों की खट्-खट् जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह था। तूफ़ान और डाकगाड़ी के इंजिनों की चिंघाड़ उनकी अकेली रातों की साथी थीं। सेठ रामजी मल की मिल के कुछ लोग कभी-कभी पास आ बैठते—वही उनका दायरा था, वही उनके साथी। वह

जीवन अब उन्हें एक खोई निधि-सा प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि वह ज़िन्दगी द्वारा ठगे गए हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा, उसमे से उन्हें एक बूँद भी न मिली।

लेटे हुए वह घर के अंदर से आते विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी-सी झड़प, बाल्टी पर खुले नल की आवाज़, रसोई के बर्तनों की खटपट और उसी में दो गौरैयों का वार्तालाप··· और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब घर की किसी बात में दख़ल न देंगे। यदि गृहस्वामी के लिए पूरे घर में एक चारपाई की जगह यहीं है, तो यहीं पड़े रहेंगे, अगर कहीं और डाल दी गई, तो अपने ही घर में परदेशी की तरह पड़े रहेंगे··· और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ नहीं बोले। नरेन्द्र माँगने आया तो बिना कारण पूछे उसे रुपये दे दिए। बसंती काफ़ी अँधेरा हो जाने के बाद भी पड़ोस में रही तो भी उन्होंने कुछ नहीं कहा। पर उन्हें सबसे बड़ा ग़म यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कुछ परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। वह मन ही मन कितना भार ढो रहे हैं इससे वह अनजान ही बनी रहीं। बल्कि उन्हें पति के घर के मामले में हस्तक्षेप न करने के कारण शांति ही थी। कभी-कभी कह भी उठतीं, "ठीक है, आप बीच में न पड़ा कीजिए। बच्चे बड़े हो गए हैं, हमारा जो कर्तव्य था, कर रहे है। पढ़ा रहे हैं, शादी कर देंगे।"

गजाधर बाबू ने आहत दृष्टि से पत्नी को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वह पत्नी और बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्त-मात्र हैं। जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी माँग में सिन्दूर डालने की अधिकारी है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, उसके सामने वह दो वक़्त भोजन की थाली रख देने से सारे कर्तव्यों से छुट्टी पा जाती है। वह घी-चीनी के डिब्बों मे इतनी रमी हुई है कि अब वही उसकी संपूर्ण दुनिया बन गई है। गजाधर बाबू उनके जीवन के केन्द्र नहीं हो सकते। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी

असंगत लगने लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। उनकी सारी खुशी एक गहरी उदासीनता में डूब गई।

इतने सब निश्चयों के बावजूद गजाधर बाबू एक दिन बीच में दख़ल दे बैठे। पत्नी स्वभावानुसार नौकर की शिकायत कर रही थी, "कितना कामचोर है। बाज़ार की हर चीज़ में पैसा बनाता है। खाने बैठता है, तो खाता ही चला जाता है।" गजाधर बाबू को बराबर यह महसूस होता रहता था कि उनके घर का रहन-सहन और ख़र्च उनकी हैसियत से कहीं ज़्यादा है। पत्नी की बात सुनकर लगा कि नौकर का ख़र्च बिलकुल बेकार है। छोटा-मोटा काम है, घर में तीन मर्द हैं, कोई न कोई कर ही देगा। उन्होंने उसी दिन नौकर का हिसाब कर दिया। अमर दफ़्तर से आया तो नौकर को पुकारने लगा। अमर की बहू बोली, "बाबूजी ने नौकर छुड़ा दिया है।"

"क्यों?"

"कहते हैं ख़र्च बहुत है।"

यह वार्तालाप बहुत सीधा-सा था, पर जिस टोन में बहू बोली, गजाधर बाबू को खटक गया। उस दिन जी भारी होने के कारण गजाधर बाबू टहलने नहीं गए थे। आलस्य में उठकर बत्ती भी नहीं जलाई। इस बात से बेख़बर नरेन्द्र माँ से कहने लगा, "अम्मा तुम बाबूजी से कहती क्यों नहीं? बैठे-बिठाए कुछ नहीं तो नौकर ही छुड़ा दिया। अगर बाबूजी यह समझते हैं कि मैं साइकिल पर बोरी रख आटा पिसाने जाऊँगा तो मुझसे यह नहीं होगा।"

"हाँ, अम्मा!" बसंती का स्वर था, "मैं कॉलेज भी जाऊँ और लौटकर घर में झाड़ू भी लगाऊँ यह मेरे बस की बात नहीं है।"

"बूढ़े आदमी हैं" — अमर भुनभुनाया, "चुपचाप पड़े रहें। हर चीज़ में दख़ल क्यों देते हैं?"

पत्नी ने बड़े व्यंग्य से कहा, "और कुछ नहीं सूझा तो तुम्हारी बहू को

ही चौके में भेज दिया। वह गई तो पंद्रह दिन का राशन पाँच दिन में बनाकर रख दिया।" बहू कुछ कहे, इससे पहले वह चौके में घुस गई। कुछ देर में अपनी कोठरी में आईं और बिजली जलाई तो गजाधर बाबू को लेटे देख बड़ी सिटपिटाईं। गजाधर बाबू की मुखमुद्रा से वह उनके भावों का अनुमान न लगा सकीं। वह चुप, आँखें बंद किए लेटे रहे।

गजाधर बाबू चिट्ठी हाथ में लिए अंदर आए और पत्नी को पुकारा। वह भीगे हाथ आँचल से पोंछती हुई पास आ खड़ी हुईं। गजाधर बाबू ने बिना किसी भूमिका के कहा, "मुझे सेठ राजीमल की चीनी मिल में नौकरी मिल गई है। खाली बैठे रहने से तो चार पैसे घर आएँ, वही अच्छा है। उन्होंने तो पहले ही कहा था, मैंने ही मना कर दिया था।" फिर कुछ रुककर, जैसे बुझी हुई आग में एक चिनगारी चमक उठे, उन्होंने धीमे स्वर में कहा, "मैंने सोचा था कि बरसों तुम सबसे अलग रहने के बाद अवकाश पाकर परिवार के साथ रहूँगा। खैर, परसों जाना है। तुम भी चलोगी?"

"मैं?" पत्नी ने सकपकाकर कहा, "मैं चलूँगी तो यहाँ क्या होगा इतनी बड़ी गृहस्थी, फिर सयानी लड़की..."

बात बीच में काट गजाधर बाबू ने थके, हताश स्वर में कहा, "ठीक है, तुम यहीं रहो। मैंने तो ऐसे ही कहा था।" और गहरे मौन में डूब गए।

नरेन्द्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बाँधा और रिक्शा बुला लाया। गजाधर बाबू का टिन का बक्सा और पतला-सा बिस्तर उस पर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिए गजाधर बाबू रिक्शा पर बैठ गए। एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली और फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा। उनके जाने के बाद सब अंदर लौट आए। बहू ने अमर से पूछा, "सिनेमा ले चलिएगा न?"

बसंती ने उछलकर कहा, "भैया, हमें भी।"

गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गईं। बची हुई मठरियों को

कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लाईं और कंस्तरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा, "अरे नरेन्द्र, बाबू जी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।"

[illegible]

1. घर जाने की खुशी में भी गजाधर बाबू ने एक विषाद का अनुभव किया। क्यों?
2. रिटायर होकर परिवार के साथ रहने के संबंध में गजाधर बाबू ने क्या-क्या कल्पनाएँ की थीं?
3. "संसार की दृष्टि में गजाधर बाबू का जीवन सफल कहा जा सकता था" लेखिका के इस कथन की अभिव्यंजना स्पष्ट कीजिए।
4. घर लौटने पर पहली बार गजाधर बाबू ने खिन्नता कब महसूस की?
5. रेलगाड़ियों की याद गजाधर बाबू को किस अस्थायित्व का अनुभव कराती हैं?
6. गजाधर बाबू को ऐसा क्यों लगा कि "वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गई और उसकी जगह आज जो स्त्री है वह उनके मन और प्राणों के लिए नितांत अपरिचित है।"
7. "सिर्फ रुपये से ही आदमी अमीर नहीं होता" गजाधर बाबू के इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
8. "गजाधर बाबू की उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी" इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।
9. गजाधर बाबू ने दुबारा नौकरी करने का फैसला क्यों किया?
10. 'वापसी' कहानी की मूल संवेदना क्या है?
    (क) नई और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष।
    (ख) अवकाश-प्राप्त व्यक्ति की अपने ही लोगों द्वारा उपेक्षा।
    (ग) पाश्चात्य संस्कृति का दुष्प्रभाव।
11. निम्नांकित मुहावरों का अर्थ स्पष्ट करते हुए उनका वाक्यों में प्रयोग करें:

दुहरा होना, सिटपिटा जाना, हाड़ तोड़ना, पेट काटना, जी भारी होना।

12. 'वापसी' कहानी के शीर्षक की सार्थकता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
13. "अरे नरेन्द्र, बाबू जी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।"
    गजाधर बाबू की पत्नी के इस कथन में निहित विडंबना पर प्रकाश डालिए।
14. "अवकाश प्राप्त व्यक्ति की समस्याएँ क्या-क्या हैं।" इस विषय पर कक्षा में चर्चा कीजिए।



(जन्म 1903 ई. मृत्यु 1976 ई.)

यशपाल का जन्म हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में 1903 ई. में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा वहीं पर हुई। बाद में लाहौर के नेशनल कॉलेज में उन्होंने बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त की। उन्हीं दिनों उनका परिचय दो प्रमुख क्रांतिकारियों – सरदार भगतसिंह और सुखदेव – से हो गया, जिसके फलस्वरूप यशपाल भी क्रांतिकारी बन गए और राजनीति में भाग लेने लगे। राजनीति के क्षेत्र में उनका झुकाव क्रमशः मार्क्सवादी चिन्तन की ओर होता गया। सक्रिय राजनीति में भाग लेने के साथ-साथ वे हिन्दी-साहित्य की सेवा भी निरंतर करते रहे।

कहानीकार के रूप में यशपाल की प्रतिभा शताब्दी के चौथे दशक से आरंभ हुई। उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं – ज्ञानदान, तर्क का तूफ़ान, पिंजरे की उड़ान, भस्मावृत चिनगारी, अभिशप्त, वो दुनिया, फूल का कुर्ता, धर्मयुद्ध, उत्तराधिकारी। उपन्यास के क्षेत्र में भी यशपाल का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं – दादा कामरेड, दिव्या, मनुष्य के रूप, झूठा सच। उनके कथा-साहित्य में आधुनिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन की विडंबनाओं का मार्मिक चित्रण मिलता है। यथार्थवादी होने के कारण उन्होंने सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना की है। उनके विचार में आर्थिक विषमता ही समस्त समस्याओं का मूल है, इसीलिए समाज की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए आर्थिक समानता का होना आवश्यक है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में उन्होंने उनकी मनोदशाओं को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है, जिससे उनकी कहानियों में स्वाभाविकता और सजीवता आ गई है।

उनकी भाषा-शैली में व्यावहारिकता का गुण सर्वत्र विद्यमान है। विषयवस्तु के

अनुरूप उन्होंने उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिसमें उनकी भाषा जनजीवन के निकट आ गई है।

सत्य का मूल्य कहानी उनके **भस्मावृत्त चिनगारी** नामक संग्रह से ली गई है। इस कहानी में सम्राट हर्षवर्द्धन के समय के ऐतिहासिक वातावरण को प्रस्तुत किया गया है। सम्राट द्वारा आयोजित बौद्धों की एक धर्मसभा में दिनांक नामक एक साधारण जन के माध्यम से यह दिखलाया गया है कि सत्य का वास्तविक मूल्य यथार्थ जीवन में निहित है, न कि असारता और अनित्यता के उपदेश में।

13

[illegible] का मूल्य

कौशम के समीप यमुना के पूर्वी तट पर दिनांक की पैतृक भूमि थी। भूमि परिवार के पालन के लिए पर्याप्त थी। हल, बैलों की जोड़ी, दो गाएँ और परिश्रम द्वारा भूमि से अन्न उत्पन्न करने के सभी साधन थे। भूमि की उपज का पंचम अंश भूमि-कर के रूप में ज्येष्ठक को दे उसका और स्त्री-पुत्रों का निर्वाह दूसरे कृषकों की भाँति हो जाता था, परंतु वह संतुष्ट न था।

दिनांक के मन में तृष्णा थी। भोग के अधिक साधन संचय कर अधिक संपन्न और सुखी बनने का स्वप्न उसके मन में समाया रहता। धन संचय कर अधिक भूमि मोल लेकर वह दूसरों से खेती करानेवाला भूमिपति बनना चाहता था। मिट्टी की दीवारों पर फूस से छाए अपने छप्पर के स्थान में वह एक बाग़ में पक्का प्रासाद बनाना चाहता था। अपने ग्राम के जुलाहे द्वारा बुने मोटे वस्त्रों के स्थान पर वह मगध, कौशल, विदिशा और कलिंग के रेशमी वस्त्र पहनना चाहता था। वह चाहता था दासियाँ उसके शरीर पर चंदन का लेप कर सिंहल के मोतियों की शीतल मालाएँ उसके गले में पहनाएँ, चंदन के पंखे से वायु करें। उसके केशों में अनेक वस्तुओं के

अनुकूल सुगंध लगाई जाए। सवारी के लिए रथ हो, रथ सुंदर रंगीन वस्त्रों से ढका हो। रथ के सुंदर बैलों के सींग तेल से चिकने और काले हों। बैलों की पीठ पर कामदार झूले पड़े हों। सुखसंपत्ति के वे सभी साधन जो उसने विदिशा नगरी में अपनी कृषि का अन्न बेचने के लिए जाने पर देखे थे और जिन्हें पूर्व जानेवाले राजपथ पर महाश्रेष्ठियों के सार्थों में देखा था, उसकी महत्त्वाकांक्षा बन उसकी कल्पना में समाए थे।

इन साधनों को प्राप्त करने के लिए दिनांक ग्रीष्म, वर्षा और हेमंत ऋतुओं में सूर्योदय से सूर्यास्त तक निरंतर परिश्रम करता रहता। शरीर का कष्ट आशा की उमंग में अनुभव न होता। संपत्ति के विस्तार के लिए वह कुछ धन बटोर पाता कि दुर्भाग्य से वर्षा ऋतु में तटों तक भरी गंगा में सैकड़ों योजन दूर होने वाली वर्षा का जल भर जाता। गंगा अपने तटों की मर्यादा का उल्लंघन कर जाती। बाढ़ में दिनांक के छप्पर-छाजन बह जाते। कभी समय पर वर्षा न होने से उसकी खेती ऐसे सूख जाती कि उपज खेत में डाले गए बीज से भी कम रहती। ऐसी अवस्था में दिनांक अत्यंत निराश हो जाता परंतु उसके अनजाने में, उसके शरीर में जानेवाला प्रत्येक श्वास बाहर जाते समय निराशा का कुछ भाग ले जाता और जीवन का अवलंब और लक्षण आशा फिर जग उठती। ऐसे ही संघर्षों में दिनांक प्रौढ़ावस्था तक पहुँच गया। उसकी आकांक्षा और कल्पना अपूर्ण ही रहीं।

युवावस्था में सुख और संपत्ति प्राप्त करने के दिनांक के प्रयत्न असफल हो जाने पर प्रौढ़ावस्था में भी वह फिर वही प्रयत्न करने लगा। उसे आशा थी, जो कुछ वह स्वयं नहीं पा सका, उसकी संतान पाएगी और वृद्धावस्था में वह अपने अंतिम दिन सुख और विश्राम में बिता सकेगा। परंतु इसी समय संपूर्ण गणों, जनपदों और ग्रामों में समाचार फैल गया कि चक्रवर्ती, दिग्विजयी, सम्राट श्री हर्षवर्धन दिशाओं के अंत तक पृथ्वी विजय कर निश्शत्रु हो तथागत भगवान् बुद्ध के करुणा और त्याग के धर्म में

दीक्षित हो, भिक्षु-वेष धारण करने जा रहे हैं।

इस विचित्र समाचार से दिनांक की कल्पना और विचार क्षुब्ध हो गए। अपने खेतों में हल चलाते समय, निराई करते समय, जंगल से ईंधन बटोरते समय और रात में थककर पुआल की चटाई पर बिछी कथरी पर लेटे हुए उसे घोड़ों, पालकियों और रथों से घिरे विशाल हाथी पर बैठे, चमचमाते रत्न-जड़े मुकुट पहने सम्राट श्री हर्षवर्धन दिखाई देने लगते-- जिनकी संपत्ति, शक्ति और सुख के साधनों का अंत नहीं, जिन्हें इच्छा करने से ही सब कुछ प्राप्त है, वही महाराजा अपनी इच्छा से सब कुछ त्याग भिक्षु के चीवर पहनने के लिए तथागत के त्याग धर्म में दीक्षित होंगे और दिनांक को कल्पना में भिक्षु के गेरुआ चीवर पहने, हाथ में लोहे का भिक्षा-पात्र लिए सिर मुँड़े भिक्षु का शांत, सुखी चेहरा दिखाई देने लगता।

सम्राट श्री हर्ष की भक्ति तथागत के धर्म में हो जाने के कारण तथागत के शिष्यों को विशेष प्रोत्साहन मिला। नित्य सहस्रों विद्वान् भिक्षुओं का सत्कार राजकोष से होता। राज्य का अपरिमित धन सहस्रों-बौद्ध भिक्षुओं से भरे मठों के लिए बहने लगा और सम्राट की उदारता का समाचार सुन पृथ्वी के कोने-कोने से गेरुआ वस्त्र धारण किए भिक्षुओं के दल सम्राट श्री हर्ष की राजधानी की ओर प्रवाहित होने लगे।

इन संसारत्यागी भिक्षुओं के लिए पुष्प उद्यानों से घिरे राजप्रासाद और पल्ली ग्राम में गोबर और खाद के ढेर से घिरे फूस के छप्पर एक समान थे। यह भिक्षु अपने उपदेशामृत की करुणा, आकाश से बरसने वाले जल की भाँति समान रूप से सभी स्थानों में मनुष्य-मात्र पर बरसाते थे। उनके प्रसन्न मुखमंडलों पर दुःख से मुक्ति और वैराग्य से प्राप्त शांति विराज रही थी। वे अपने आनंद का भाग सभी को देने के लिए आतुर थे। वे उपदेश देते :

हे संसार के दुःखी प्राणियो, राग के समान जलानेवाली दूसरी अग्नि नहीं। द्वेष के समान कलुषित करनेवाला मल नहीं। पाँच स्कंधों के समान

दु:ख नहीं। शांति से बढ़कर सुख नहीं। हे मनुष्यो, भूख सबसे बड़ा रोग है, संसार परम दु:खी है, यह जाननेवाला ही निर्वाण का परम सुख पाता है "सुसुंखवत! जीवाम येन्स नो नत्थि" — अहो, हम लोगों के पास कुछ नहीं, और हम कैसे सुखपूर्वक जीते हैं। हम आभास्वर देवताओं की तरह प्रीति का भोजन करते हैं। हे कृषको, खेत का दोष तृण है वैसे ही मनुष्य का दोष इच्छा है। यह शरीर अनित्य है। यह संसार अनित्य है। अनित्य से पाया अनित्य क्या स्थिर होगा? माया को छोड़ो, ज्ञान को प्राप्त करो! — बोधिवृक्ष के नीचे तथागत ने यह ज्ञान प्राप्त किया है। दु:खों से मुक्ति पाने के लिए बुद्ध की शरण आओ! धर्म की शरण आओ! संघ की शरण आओ!

प्रसन्नमुख और शांतचित्त भिक्षुओं को देख और उनका उपदेश सुन दिनांक को अत्यंत ग्लानि हुई। उसके मन में पश्चात्ताप हुआ कि संपूर्ण जीवन सुख की आशा में वह दु:ख के कारण बटोरने के लिए दु:ख के मार्ग पर ही चलता रहा। भिक्षुओं के उपदेश से वह अनंत सुख-प्राप्ति की बात सोचने लगा। ऐसे सुख को पाने का उपाय जिसकी तुलना में चक्रवर्ती महाराजाधिराज सम्राट की अतुल संपत्ति और शक्ति भी तुच्छ थी। भिक्षुओं के मुख से सुनी तथागत के जीवन की कथाओं और उपदेशों का मनन करते रहने से दिनांक की कल्पना में सदा ही बोधिवृक्ष की छाया में समाधिस्थ, प्रकाश-पुंज से घिरा बोधिसत्व का रूप दिखाई देता रहता।

जिस सुख को दिनांक संपूर्ण जीवन के प्रयत्न से न पा सका, उससे भी महान सुख को केवल जान लेने (ज्ञान) के उपाय मात्र से पा लेने के विश्वास से वह अत्यंत उत्साहित हो उठा। उस परम ज्ञान को दूसरे के मुख द्वारा और दुर्गम तर्क से प्राप्त करने की अपेक्षा उसने अपने ही तप से पाने का निश्चय किया। वैराग्य की ओर प्रवृत्ति और ज्ञान की तृष्णा से दिनांक अपनी भूमि की खेती और परिवार की चिन्ता का बोझ अपने किशोर बालकों और अपनी प्रौढ़ स्त्री पर छोड़, तप द्वारा परम ज्ञान के असीम सुख की खोज में चल पड़ा।

गंगा के निर्जन तट पर एकांत देख कर गूलर के वृक्ष के नीचे उसने समाधि लगा ली। उसने निश्चय किया, परम ज्ञान द्वारा प्राप्त परम सुख और निर्वाण में ही उसकी समाधि परिवर्तित हो जाएगी।

निर्जन गंगा तट पर सूर्यास्त हो गया। गूलर के वृक्ष पर घोंसला बनाए सैकड़ों पक्षियों के कलरव से कुछ समय के लिए वह स्थान गूँज उठा। चारों ओर फैले पतसर के जंगल की वायु सूर्य की किरणों से पाई ऊष्मा खो शीतल हो गई। घने अंधकार में अनेक शृगाल और दूसरे जीव गंगा का जल पी गूलर के नीचे गिरे फल को खाने के लिए घूमने लगे, परंतु दिनांक पद्मासन में बैठा निरंतर ध्यान करता रहा – सत्य क्या है? परम सुख क्या है? और दुःखों से मुक्ति कैसे हो? फिर सूर्योदय से पूर्व वृक्ष पर पक्षियों का कोलाहल हुआ। सूर्य की कोमल किरणों ने उग्रता ग्रहण की। मध्याह्न हुआ, फिर सूर्य पश्चिम की ओर ढलने लगा। परिवर्तन के इस चक्र में समाधि में स्थिर दिनांक परिवर्तन से मुक्त अमरत्व को खोज रहा था।

इस प्रकार सोलह सूर्योदय और सत्रह सूर्यास्त हो गए। दिनांक दृढ़ता से समाधि में स्थिर ज्ञान के प्रकाश का आह्वान और प्रतीक्षा करता रहा। शारीरिक दुःखों की अनुभूतियाँ अत्यंत उग्र हुईं और फिर क्षीण होने लगीं। दिनांक ने संतोष अनुभव किया। वह दुःखों से परास्त न होकर दुःखों की अनुभूति से मुक्ति-लाभ कर रहा है। वह निरंतर ध्यानमग्न था। परंतु उसका ध्यान और विचार की शक्ति निष्क्रिय-सी होती जा रही थी। वह बेसुध-सा होता जा रहा था।

सुध आने पर उसने देखा उसके पाँव समाधि के आसन में बँधे रहने पर भी उसकी पीठ लुढ़ककर वृक्ष के तने से सट गई है और वैसे ही उसका सिर भी। ज्ञान का प्रकाश अभी वह देख न पाया था। अपनी असफलता से उसे ग्लानि हुई। उसने स्वीकार किया, वह विचार और ध्यान में असमर्थ हो गया है। परंतु विचार, ध्यान और तप द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का उसका निश्चय

दृढ़ था। उसने मन को समझाया – विचार और ध्यान के लिए सामर्थ्य पाना आवश्यक है। शरीर के निष्क्रिय और निश्चेष्ट हो जाने पर वह विचार और ध्यान कैसे करेगा?

स्वयं ही उसके हाथ फैल गए और शरीर को सामर्थ्य देने के लिए वह पृथ्वी पर गिरे गूलर के फल उठा मुख में ले चूसने लगा। बहुत देर तक ऐसा करने पर विचार करने की सामर्थ्य उसने पाई। उसे जान पड़ा, दुराग्रह से अपनी विचार-शक्ति को नष्ट करना व्यर्थ है। जो है, उसे बलपूर्वक अस्वीकार कर, कल्पना से कुछ नई बात निकालने का दुराग्रह भी व्यर्थ है। दुःख से भय ही दुःख है। बहुत समय तक गूलर के फलों का रस चूसता वह इसी प्रकार के विचारों में डूबा रहा और फिर व्यर्थ कष्ट-सहन द्वारा वास्तव को कल्पना में अवास्तव मान लेने का विचार छोड़ चल दिया।

दिनांक ने देखा। प्रतिदिन और रात्रि गंगा के वक्ष पर पाल उड़ाती सैकड़ों नावें गंगा-यमुना के संगम की ओर चली जा रही थीं। उसने राज-मार्ग पर भी प्रत्येक ग्राम, जनपद और नगर से पथिकों की धाराएँ आ-आकर नदियों के संगम की ओर बहने वाले जन-प्रवाह से सम्मिलित होते देखीं। उसने कौतूहल से इस विषय में यात्रियों से प्रश्न किया। उत्तर में यात्रियों ने भी विस्मय से प्रश्न किया – क्या तुम नहीं जानते, चक्रवर्ती सम्राट श्री हर्षवर्धन ने गंगा-यमुना के संगम पर पुण्य पर्व का संयोजन किया है। इस सत्संग में धर्म के तत्त्वों का निश्चय होगा और इस पर्व पर सम्राट अपनी अतुल द्रव्य संपत्ति भिक्षुओं को दान कर देंगे। इस दान के पश्चात् पृथ्वी पर फिर कोई याचक न रह जाएगा।

दिनांक भी रथों, पालकियों और दूसरी सवारियों से भरे राजमार्ग पर सहस्रों संपन्न गृहस्थों, गेरुआ वस्त्र धारण किए भिक्षुओं और द्रव्याभिलाषी साधारण दीन जन के साथ संगम की ओर चल दिया।

दिनांक ने देखा – गंगा-यमुना के संगम के दक्षिण तट की रेती पर

प्रायः एक योजन तक मनुष्य-ही-मनुष्य फैले हुए थे। पृथ्वी के आदि-अंत से नाना वर्ण और रूप का जनसमुदाय धर्म का तत्त्व जानने के लिए उत्सुक हो संगम पर आ घिरा था। देश-विदेश के व्यापारी भी अपने अद्भुत और विचित्र पदार्थ ले, आकर्षक दुकानें सजाए संसार से विरक्त होते धर्माभिलाषियों को संसार की ओर आकर्षित करने का यत्न कर रहे थे। समारोह के बीचोंबीच एक विशाल पंडाल था, जिसमें दस सहस्र भिक्षुओं के एक साथ बौद्ध सूत्रों का पाठ करने की ध्वनि से आकाश आठों पहर गूँजता रहता था।

समारोह के विस्तार में सब ओर स्थान-स्थान पर तथागत बोधिसत्व की जीवन-गाथा के चित्र, उनके जीवन के उपदेशों को प्रचारित करते हुए बने थे। स्थान-स्थान पर बौद्ध धर्म के नियमों और करुणा धर्म पालन करने की राजाज्ञाओं का उल्लेख बहुत बड़ी-बड़ी शिलाओं और भीतों पर सम्राट श्री हर्षवर्धन की मुद्रा-सहित अंकित किया गया था। पंडाल के तोरणों पर नगाड़ों की चोट से निरंतर घोषणा हो रही थी – चक्रवर्ती सम्राट श्री हर्ष द्वारा स्वीकृत तथागत बुद्ध के उपदेश के हीनयान मार्ग के संबंध में जिस किसी व्यक्ति को संदेह अथवा शंका हो वह राजगुरु महाविद्वान् चीनी यात्री अर्हत इत्सिंग से शास्त्रार्थ करे! शास्त्रार्थ में विजयी होनेवाले को सम्राट की ओर से पंडाल में बना स्वर्ण-मुद्राओं का पर्वत और असंख्य बहुमूल्य रत्नों की भेंट दी जाएगी और शास्त्रार्थ में पराजित होने वाले का सिर, सद्धर्म की निन्दा के अपराध में, कृपाण से काट दिया जाएगा। राजाज्ञा से धर्म की निन्दा करनेवालों का ह्रास होकर सब ओर धर्म की विजय हो रही थी।

दिनांक भी पंडाल में गया। पंडाल का तीन चौथाई भाग गेरुए रंग का चीवर धारण किए भिक्षुओं से भरा था। उस्तरे से मुँड़े भिक्षुओं के सिर ऐसे जान पड़ते थे जैसे गेरुआ मिट्टी पर कोरी हांडियाँ दूर तक औंधा कर रख दी गई हों। एक-चौथाई भाग में अनेक प्रकार के सुंदर और कोमल आसनों पर

रंगीन रेशमी वस्त्रों और आभूषणों से शृंगार किए सामंत वर्ग और संपन्न श्रेष्ठि समाज आसीन था। उनके पीछे साधारण जनसमुदाय केन्द्र में ऊँचे मंच पर सोने के छत्र के नीचे, सोने के सिंहासन पर, चँवर धारी यवनियों और खड्गधारी शरीर-रक्षकों से घिरे सम्राट ज्ञान की चिन्ता से गंभीर मुख लिए बैठे थे। उनके सम्मुख स्वर्ण की चौकी पर कुशासन बिछाए चीन देशवासी राजगुरु उपस्थित थे। एक ओर स्वर्ण मुद्राओं का पर्वत और रत्नों के थाल सजे थे। दूसरी ओर लाल वस्त्र धारण किए कंधे पर दीर्घ कृपाण लिए जल्लाद प्राणदंड देने के लिए उपस्थित था।

बौद्ध भिक्षुओं ने सूत्र-पाठ किया और राजगुरु ने विचित्र उच्चारण से धर्मोपदेश दिया – असार को सार और सार को असार समझनेवाले, झूठे संकल्पों में संलग्न मनुष्य सार को नहीं प्राप्त कर सकते। – मनुष्य जैसे बुलबुले को देखता है, जैसे मरुभूमि में जल के भ्रम को मिथ्या जानता है वैसे ही जो मनुष्य इस मायामय लोक को जानता है वही अमर होता है। तोरण पर नगाड़े की चोट से शास्त्रार्थ के लिए फिर चुनौती दी गई।

सामंत वर्ग और संपन्न समाज के पीछे से ऊँचा परंतु काँपता हुआ स्वर सुनाई दिया और लोगों ने देखा एक ग्रामीण बाँह उठाकर कुछ कह रहा है।

व्यवस्था की रक्षा करनेवाले शस्त्रधारी राजसेवक उस ग्रामीण दिनांक को राजसिंहासन के सम्मुख राजगुरु के आसन के समीप ले आए। ग्रामीण के पागलपन पर विशाल सभा विस्मित रह गई।

उत्सव-अध्यक्ष राजमंत्री ने ग्रामीण से प्रश्न किया – "तुम राजगुरु से धर्म के तत्त्व पर शास्त्रार्थ अथवा शंका करोगे?"

दिनांक ने सिर झुका कर हामी भरी।

"शास्त्रार्थ में पराजय का दंड मृत्यु है, जानते हो?" मंत्री ने चेतावनी दी। दिनांक ने पुनः हामी भरी।

राजगुरु के समीप बैठे एक शिष्य ने राजगुरु की ओर से उससे प्रश्न

किया – ''हे ग्रामीण, तुम किस मत के अनुगामी हो, तुम्हारी प्रतिज्ञा क्या है?''

दिनांक आँखें और ओंठ फैलाए मूक रहा। ग्रामीण की इस जड़ता से भिक्षु-समाज में उसकी अबोध धृष्टता के प्रति घृणा की मुसकान फैल गई। नागरिक समाज में से कुछ ने मुसकरा दिया और कुछ के मुख पर भय मिली करुणा का भाव छा गया।

ग्रामीण को उत्साहित करने के लिए राजगुरु ने कृपा से मुसकराकर प्रश्न किया – ''हे सौम्य, तुम्हारी शंका क्या है?''

सचेत हो दिनांक ने उत्तर दिया – ''आप जो कहते हैं वह सत्य नहीं। यह संसार मिथ्या-माया नहीं?''

राजगुरु के शिष्य ने फिर प्रश्न किया – ''आयुष्मान, तुम्हारी शंका के लिए शास्त्र का प्रमाण क्या है?''

दिनांक को मूढ़ता से चुप देख राजगुरु ने पुन: सरल मुसकान से उसे उत्साहित किया, ''सौम्य, तुम्हारा तर्क, मत अथवा अनुभव क्या है?''

''ऐसा मैंने देखा है!'' उत्तर दे दिनांक मूक रह गया।

संपूर्ण सभा भी इस विचित्र परिस्थिति में मौन थी और सम्राट अपने सिंहासन की पीठ से सहारा लिए बायें हाथ की बंद मुट्ठी पर ठोड़ी रखे इतनी-सी बात कहने के लिए मृत्यु का भय न करनेवाले साहसी ग्रामीण की ओर दृष्टि किए उसका अभिप्राय जानने का यत्न कर रहे थे।

उत्सव के अध्यक्ष राजमंत्री ने सम्राट की ओर देखा और ग्रामीण को संबोधन किया। ''तुम जानते हो राजगुरु से शास्त्रार्थ में पराजय का दंड मृत्यु है। उसी दंड के तुम अधिकारी हो।''

लाल कपड़े पहने बधिक का हाथ अपनी कृपाण की मूठ पर दृढ़ हो गया। और खड्ग ने तनिक काँपकर तत्परता प्रकट की।

''परंतु मैं पराजित नहीं हूँ।'' ग्रामीण दिनांक ने उत्तर दिया। सभा पर

पुन: वितृष्णा भरी मुसकान फिर गई।

राजगुरु के शिष्य ने पुन: प्रश्न किया, "हे सौम्य, यदि तुम पराजित नहीं हो तो अपने युक्ति, तर्क और प्रमाण कहो!"

"यदि मेरा अज्ञान राजगुरु की विजय है तो दिनांक ने सुवर्ण और रत्नों की ओर उँगली से संकेत किया -- "इस मायामय असार द्रव्य को स्वीकार करना ही उनके उपदेश की पराजय है। यदि राजगुरु का उपदेश सत्य है तो वह मायामय असार द्रव्य मेरे लिए दें और असार अनित्य जीवन से मुक्ति की ओर स्वयं जाएँ।" दिनांक ने लाल कपड़े पहने बधिक की ओर संकेत किया। सभा में पहले भय का सन्नाटा और फिर कौतूहलपूर्ण परिहास की स्फूर्ति फिर गई। राजगुरु भी मुसकरा दिए।

उत्सव के अध्यक्ष राजमंत्री ने सम्राट के सम्मुख सिर नवाकर प्रार्थना की, "पृथ्वी पर न्याय के रक्षक, चक्रवर्ती सम्राट श्री देव न्यायासन से आज्ञा दें।"

सम्राट ने मानो विचार तंद्रा से जाग उत्तर दिया – "इस विषय में पुन: विचार हो! इस समय सभा भंग की जाए!"

पराजय के लिए प्राणदंड की अवज्ञा पर परमज्ञानी अर्हत राजगुरु से शास्त्रार्थ करने का दुस्साहस करनेवाले अबोध ग्रामीण का वृत्तांत रातभर में ही जनसमुदाय में फैल गया। दूसरे दिन सम्राट की धर्म-सभा में जनता टूट पड़ी। सम्राट के सिंहासन ग्रहण करने पर लोहे की शृंखला से बाँधकर दिनांक को सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया गया। दिनांक के मुख पर निर्भय शांति विराज रही थी।

करुणा का व्रत लिए सम्राट रातभर इस अबोध ग्रामीण की बात सोचते रहे थे। राजमंत्रियों और राजगुरु को संबोधन कर सम्राट बोले, "अपराधी ने शास्त्रार्थ में पराजय नहीं पाई, क्योंकि वह शास्त्र से परिचित नहीं है।"

राजगुरु ने कृपा की मुसकान से सम्राट का समर्थन किया, "देव का वचन यथार्थ है। श्री देव न्यायरूप हैं। श्री देव की कृपा अनंत है। रातभर इस अबोध ग्रामीण ने अपने सिर पर मृत्यु का खड्ग अनुभव किया है। इसके मूल्य-स्वरूप देव इस अबोध को एक लक्ष मुद्रा दान देने की कृपा करें।"

राजगुरु की उदारता से सभा अवाक् रह गई। सम्राट संतोष और करुणा से मुसकरा दिए। सब ओर से "साधु-साधु, राजगुरु की जय हो।" की ध्वनि उठने लगी।

उत्सव के अध्यक्ष राजमंत्री के संकेत से प्रतिहारियों ने दिनांक को लोहे की साँकलों से मुक्त कर दिया। कोषाध्यक्ष ने आगे बढ़कर एक लाख स्वर्ण-मुद्रा की थैली प्रतिहारियों द्वारा सम्राट के सामने उपस्थित कर दी और दिनांक को संबोधन कर कहा -- "हे भाग्यशाली सौम्य, राजदान ग्रहण करने के लिए आगे बढ़ो।

अपने ही स्थान पर खड़े रह दिनांक ने कर जोड़, सिर झुका विनय की, "पृथ्वी के पालक धर्मराज सम्राट क्षमा करें, सत्य का मूल्य मेरे प्राण हैं, एक लाख मुद्रा नहीं।"

सम्राट ने विस्मय से राजगुरु की ओर देखा -- राजगुरु का मुख विचार से अत्यंत गंभीर हो गया था...।

प्रश्न-अभ्यास

1. दिनांक के परिवार का निर्वाह ठीक ढंग से चल रहा था, फिर भी वह असंतुष्ट क्यों था?
2. वह कौन-सा कारण था जिसने दिनांक के मन में वितृष्णा जागृत कर दी?
3. सम्राट् हर्षवर्धन के संन्यास व्रत लेने के समाचार से दिनांक की कल्पना और विचार किस प्रकार क्षुब्ध हुए?

4. दिनांक ने वैराग्य को अपनाया, क्योंकि :
   (क) वह अपने पारिवारिक और आर्थिक जीवन से असंतुष्ट था।
   (ख) वह दूसरों को वैराग्य का महत्त्व समझाना चाहता था।
   (ग) वह वैराग्य को गृहस्थ जीवन की अपेक्षा सुविधाजनक मानता था।
   (घ) वह वैराग्य से अभी तक अप्राप्त सुख को प्राप्त करना चाहता था।
5. "माया को छोड़ो, ज्ञान को प्राप्त करो।"
   माया को स्पष्ट करते हुए तथागत के धर्म के प्रमुख सिद्धांत बताइए।
6. दिनांक के सबंध में सम्राट का निर्णय अगले दिन के लिए सुरक्षित रख उसे रातभर कैद में रखा गया। दिनांक की पूरी रात किन आशंकाओं, दुश्चिन्ताओं में कटी होगी? अपनी कल्पना के आधार पर लिखिए।
7. "यदि मेरा अज्ञान राजगुरु की विजय है, तो इस मायामय असार द्रव्य को स्वीकार करना उनके उपदे ा की पराजय है।" दिनाक के उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करते हुए बताइए कि आपकी दृष्टि से शास्त्रार्थ में कौन विजयी हुआ?
8. "सत्य का वास्तविक मूल्य जीवन के यथार्थ में ही निहित है, जीवन की नश्वरता के बोध मे नही।" प्रस्तुत कहानी के आधार पर इस कथन को समझाइए।
9. 'सूर्योदय' शब्द 'सूर्य + उदय' से मिलकर बना है। ऐसे अनेक शब्द पाठ में आए हैं, उन्हें छाँटिए और उनका सधिविच्छेद कीजिए।



रांगेय राघव

(जन्म 1923 ई० मृत्यु : 1962 ई०)

रांगेय राघव का जन्म आगरा मे हुआ था। उनका वास्तविक नाम तिरुमल्लै नम्बाकम वीर राघव आचार्य था, पर उन्होंने रांगेय राघव नाम से साहित्य-रचना की है। उनके पूर्वज दक्षिण आरकाट से जयपुर नरेश के निमंत्रण पर जयपुर आये थे। बाद में आगरा मे उनका स्थायी निवास बना। वहीं रांगेय राघव की शिक्षा-दीक्षा हुई। उन्होंने सेन्ट जान्स कॉलेज, आगरा से 1943 ई० मे एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा सन् 1949 ई० मे पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। 39 वर्ष की अल्पायु मे ही 12 सितम्बर 1962 ई० को उनकी मृत्यु हो गई।

रांगेय राघव ने साहित्य की लगभग सभी विधाओं मे रचना की है जिनमें कहानी, उपन्यास, कविता और आलोचना मुख्य है। उनके प्रमुख कहानी-संग्रह है - **रामराज्य का वैभव, देवदास, समुद्र के फेन, अधूरी मूरत, जीवन के दाने, अंगारे न बुझे, ऐयाश मुर्दे, इंसान पैदा हुआ।** उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं : **घरौंदा, कबतक पुकारूं, विषाद-मठ, मुर्दों का टीला, सीधा-सादा रास्ता, अंधेरे के जुगनू, बोलते खंडहर, रैन और चंदा** दो भागो मे उन्होंने भारतीय इतिहास को रेखांकित किया है। सन् 1961 में राजस्थान साहित्य अकादमी ने उनकी सेवा के लिए उन्हें पुरस्कृत किया। रांगेय राघव की रचनाओं का संग्रह दस खंडो में 'रांगेय राघव ग्रंथावली' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

रांगेय राघव ने 1936 ई० से ही कहानियाँ लिखनी शुरू कर दी थीं। उन्होंने अस्सी से अधिक कहानियाँ लिखी हैं। अपने कथा-साहित्य मे उन्होंने जीवन के विविध आयामों को रेखांकित किया है। समाज के शोषित-पीड़ित मानव के जीवन के यथार्थ का बहुत ही मार्मिक चित्रण उनकी कहानियो में मिलता है। साथ ही शोषण से मुक्ति का मार्ग भी

उन्होंने दिखाया है। सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा उनकी कहानियों की विशेषता है।

गूँगे कहानी' में एक गूँगे किशोर के माध्यम से शोषित एवं पीड़ित मानव की असहायता का चित्रण किया गया है। कभी तो वह मूक भाव से सब अत्याचार सह लेता है और कभी विरोध में आक्रोश व्यक्त करता है।

14

'शकुंतला क्या नहीं जानती?'

''कौन? शकुंतला? कुछ भी नहीं जानती।'

'क्यों साहब? क्या नहीं जानती? ऐसा क्या काम है जो वह नहीं कर सकती?'

'वह उस गूँगे को नहीं बुला सकती।'

'अच्छा, बुला दिया तो?'

'बुला दिया!'

बालिका ने एक बार कहनेवाली की ओर द्वेष से देखा और चिल्ला उठी– दूँदे।

गूँगे ने नहीं सुना। तमाम स्त्रियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं। बालिका ने मुँह छिपा लिया।

जन्म से वज्र बहरा होने के कारण वह गूँगा है। उसने अपने कानों पर हाथ रखकर इशारा किया। सब लोगों को उसमें दिलचस्पी पैदा हो गई, जैसे तोते को राम-राम कहते सुनकर उसके प्रति हृदय में एक आनंदमिश्रित कुतूहल उत्पन्न हो जाता है।

चमेली ने अँगुलियों से इंगित किया — फिर?

मुँह के आगे इशारा करके गूँगे ने बताया — भाग गई। कौन? फिर समझ में आया। जब छोटा ही था तब 'माँ जो घूँघट काढ़ती थी, छोड़ गई। क्योंकि 'बाप', अर्थात बड़ी-बड़ी मूँछें, मर गया था। और फिर उसे पाला है— किसने? यह तो समझ में नहीं आया, पर वे लोग मारते बहुत हैं।

करुणा ने सबको घेर लिया। वह बोलने की कितनी ज़बर्दस्त कोशिश करता है। लेकिन नतीजा कुछ नहीं, केवल कर्कश काँय-काँय का ढेर। अस्फुट ध्वनियों का वमन, जैसे आदिम मानव अभी भाषा बनाने में जी जान से लड़ रहा हो।

चमेली ने पहली बार अनुभव किया कि यदि गले में काकल तनिक ठीक नहीं हो तो मनुष्य क्या से क्या हो जाता है। कैसी यातना है कि वह अपने हृदय को उगल देना चाहते, किन्तु उगल नहीं पाता।

सुशीला ने आगे बढ़कर इशारा किया — मुँह खोल! और गूँगे ने मुँह खोल दिया। लेकिन उसमें कुछ दिखाई नहीं दिया। पूछा, गले में कौआ है? गूँगा समझ गया। इशारे से ही बता दिया — किसी ने बचपन में गला साफ़ करने की कोशिश में काट दिया और वह ऐसे बोलता है जैसे घायल पशु कराह उठता है, शिकायत करता है, जैसे कुत्ता चिल्ला रहा हो और कभी-कभी उसके स्वर में ज्वालामुखी के विस्फोट की-सी भयानकता थपेड़े मार उठती है। वह जानता है कि वह सुन नहीं सकता। और बता कर मुसकराता है। वह जानता है कि उसकी बोली को कोई नहीं समझता, फिर भी बोलता है।

सुशीला ने कहा — इशारे ग़ज़ब के करता है। अक्ल बहुत तेज़ है। पूछा — खाता क्या है, कहाँ से मिलता है?

वह कहानी ऐसी है जिसे सुनकर सब स्तब्ध बैठे हैं। हलवाई के यहाँ

रातभर लड्डू बनाए हैं, कड़ाही माँजी है, नौकरी की है, कपड़े धोए हैं, सबके इशारे हैं, लेकिन –

गूँगे का स्वर चीत्कार में परिणत हो गया। सीने पर हाथ मारकर इशारा किया – हाथ फैलाकर कभी नहीं माँगा, भीख नहीं लेता। भुजाओं पर हाथ रखकर इशारा किया – मेहनत का खाता हूँ, और पेट बजाकर दिखाया इसके लिए, इसके लिए।

अनाथाश्रम के बच्चों को देखकर चमेली रोती थी। आज भी उसकी आँखों में पानी आ गया। वह सदा से ही कोमल है। सुशीला से बोली – इसे नौकर भी तो नहीं रखा जा सकता।

पर गूँगा उस समय समझ रहा था। वह दूध ले आता है। कच्चा मँगाना हो, थन काढ़ने का इशारा कीजिए, औटा हुआ मँगाना हो, हलवाई जैसे एक बर्तन से दूसरे बर्तन में उठाकर डालता है, वैसी बात कहिए। साग मँगाना हो गोल-मोल कीजिए या लंबी उँगली दिखाकर समझाइए,.... और भी.... और भी।

और चमेली ने इशारा किया – हमारे यहाँ रहेगा?

गूँगे ने स्वीकार तो किया, किन्तु हाथ से इशारा किया – क्या दोगी? खाना?

'हाँ' चमेली ने सिर हिलाया।

'कुछ पैसे?'

चार उँगलियाँ दिखा दीं। गूँगे ने सीने पर हाथ मारकर जैसे कहा – तैयार हैं। चार रुपए।

सुशीला ने कहा – पछताओगी। भला यह क्या काम करेगा?

'मुझे तो दया आती है बेचारे पर,' चमेली ने उत्तर दिया – न हो, बच्चों की तबीयत बहलेगी।

घर पर बुआ मारती है, फूफा मारता था, क्योंकि उन्होंने उसे पाला था। वे चाहते थे कि बाजार में पल्लेदारी करे, बारह-चौदह आने कमा कर लाए और उन्हें दे दे, बदले में वे उसके सामने बाजरे और चने की रोटियाँ डाल दें। अब गूँगा घर भी नहीं जाता। यहीं काम करता है। बच्चे चिढ़ाते हैं। कभी नाराज़ नहीं होता। चमेली के पति सीधे-सादे आदमी हैं। पल जाएगा, किन्तु वे जानते हैं कि मनुष्य की करुणा की भावना उसके भीतर गूँगेपन की प्रतिच्छाया है, जब वह बहुत-कुछ करना चाहता है, किन्तु कर नहीं पाता। इसी तरह दिन बीत रहे हैं।

चमेली ने पुकारा – गूँगे?

किन्तु कोई उत्तर नहीं आया, उठकर ढूँढा – कुछ पता नहीं लगा।

बसंता ने कहा – मुझे तो कुछ नहीं मालूम।

'भाग गया होगा', पति का उदासीन स्वर सुनाई दिया। सचमुच वह भाग गया था। कुछ भी समझ में नहीं आया। चुपचाप जाकर खाना पकाने लगी। क्यों भाग गया? नाली का कीड़ा। एक छत उठाकर सिर पर रख दी फिर भी मन नहीं भरा। दुनिया हँसती है, हमारे घर को अब अजायबघर का नाम मिल गया है.... किसलिए....

जब बच्चे और वह भी खाकर उठ ग ए तो चमेली बची रोटियाँ कटोरदान में रखकर उठने लगी। एकाएक द्वार पर कोई छाया हिल उठी। वह गूँगा था। हाथ से इशारा किया – भूखा हूँ।

'काम तो करना नहीं, भिखारी।' फेंक दी उसकी ओर रोटियाँ रोष से और पीठ मोड़कर खड़ी हो गई। किन्तु गूँगा खड़ा रहा। रोटियाँ छुई तक नहीं। देर तक दोनों चुप रहे। फिर न जाने क्यों गूँगे ने रोटियाँ उठा लीं और खाने लगा। चमेली ने गिलासों में दूध भर दिया। देखा, गूँगा खा चुका है। उठी और हाथ में चिमटा लेकर उसके पास खड़ी हो गई।

'कहाँ गया था?' चमेली ने कठोर स्वर से पूछा।

कोई उत्तर नहीं मिला। अपराधी की भाँति सिर झुक गया। सड़ से एक चिमटा उसकी पीठ पर जड़ दिया। किन्तु गूँगा रोया नहीं। वह अपने अपराध को जानता था। चमेली की आँखों से दो बूँदें ज़मीन पर टपक गईं। तब गूँगा भी रो दिया।

और फिर यह भी होने लगा कि गूँगा जब चाहे भाग जाता, फिर लौट आता। उसे जगह-जगह नौकरी करके भाग जाने की आदत पड़ गई थी। और चमेली सोचती कि उसने उस दिन भीख ली थी या ममता की ठोकर को निस्संकोच स्वीकार कर लिया था?

बसंता ने कसकर गूँगे के चपत जड़ दी। गूँगे का हाथ उठा और न जाने क्यों अपने आप रुक गया। उसकी आँखों में पानी भर आया और वह रोने लगा। उस का रुदन इतना कर्कश था कि चमेली को चूल्हा छोड़कर उठ आना पड़ा। गूँगा उसे देखकर इशारों से कुछ समझाने लगा। देर तक चमेली उससे पूछती रही। उसकी समझ में इतना ही आया कि 'खेलते-खेलते बसंता ने उसे मार दिया था।

बसंता ने कहा -- अम्मा! यह मुझे मारना चाहता था।

'क्यों रे?' चमेली ने गूँगे की ओर देखकर कहा। वह इस समय भी नहीं भूली थी कि गूँगा कुछ सुन नहीं सकता। लेकिन गूँगा भावभंगिमा से समझ गया। उसने चमेली का हाथ पकड़ लिया। एक क्षण को चमेली को लगा जैसे उसी के पुत्र ने आज उसका हाथ पकड़ लिया था। एकाएक घृणा से उसने हाथ छुड़ा लिया। पुत्र के प्रति मंगल-कामना ने उसे ऐसा करने को मजबूर कर दिया।

कहीं उसका भी बेटा गूँगा होता तो वह भी ऐसे ही दुःख उठाता। वह कुछ भी नहीं सोच सकी। एक बार फिर गूँगे के प्रति हृदय में ममता भर आई। वह लौटकर चूल्हे पर जा बैठी, जिसमें अंदर आग थी, लेकिन उसी आग से वह सब पक रहा था जिससे सबसे भयानक आग बुझती है -- पेट की

आग, जिसके कारण आदमी गुलाम हो जाता है। उसे अनुभव हुआ कि गूँगे में बसंता से कहीं अधिक शारीरिक बल था। कभी भी गूँगे की भाँति शक्ति से बसंता ने उसका हाथ नहीं पकड़ा था। लेकिन फिर भी गूँगे ने अपना उठा हाथ बसंता पर नहीं चलाया।

रोटी जल रही थी। झट से पलट दी। वह पक रही थी, इसी से बसंता बसंता है... गूँगा गूँगा है....

चमेली को विस्मय हुआ। गूँगा शायद यह समझता है कि बसंता मालिक का बेटा है, उस पर वह हाथ नहीं चला सकता। मन-ही-मन थोड़ा विक्षोभ भी हुआ, किन्तु पुत्र की ममता ने इस विषय पर चादर डाल दी। और फिर याद आया उसने उसका हाथ पकड़ा था। शायद इसीलिए कि उसे बसंता को दंड देना ही चाहिए, यह उसका अधिकार है।

किन्तु वह तब समझ नहीं सकी, और उसने सुना गूँगा कभी-कभी कराह उठता था। चमेली उठकर बाहर गई। कुछ सोचकर रसोई में लौट आई और रात की बासी रोटी लेकर निकली।

'गूँगे?' उसने पुकारा।

न जाने कान के पर्दे में कोई चेतना है कि गूँगा उसी आवाज़ को कभी अनसुना नहीं कर सकता, वह आया। उसकी आँखों में पानी भरा था। जैसे उनमें एक शिकायत थी, पक्षपात के प्रति तिरस्कार था। चमेली को लगा कि लड़का बहुत तेज है। बरबस ही उसके होठों पर मुस्कान छा गई। कहा – ले खा ले। – और हाथ बढ़ा दिया।

गूँगा इस स्वर की, इस सबकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह हँस पड़ा। अगर उसका रोना एक अजीब दर्दनाक आवाज़ थी तो यह हँसना और कुछ नही – एक अचानक गुर्राहट-सी चमेली के कानों में बज उठी। उस अमानवीय स्वर को सुनकर वह भीतर-ही-भीतर काँप उठी। यह उसने क्या

किया था? उसने एक पशु पाला था जिसके हृदय में मनुष्यों की-सी वेदना थी।

घृणा से विक्षुब्ध होकर चमेली ने कहा – क्यों रे, तूने चोरी की है?

गूँगा चुप हो गया। उसने अपना सिर झुका लिया। चमेली एक बार क्रोध से काँप उठी, देर तक उसकी ओर घूरती रही। सोचा – मारने से यह ठीक नहीं हो सकता। अपराध को स्वीकार कराके दंड न देना ही शायद कुछ असर करे। और फिर कौन मेरा अपना है! रहना हो तो ठीक से रहे, नहीं तो फिर जाकर सड़क पर कुत्तों की तरह जूते पर ज़िन्दगी बिताए, दर-दर अपमानित और लांछित...।

आगे बढ़कर गूँगे का हाथ पकड़ लिया और द्वार की ओर इशारा करके दिखाया – निकल जा।

गूँगा जैसे समझा नहीं। बड़ी-बड़ी आँखों को फाड़े देखता रहा। कुछ कहने को शायद एक बार होंठ भी खुले, किन्तु कोई स्वर नहीं निकला। चमेली वैसे ही कठोर बनी रही। अबके मुँह से भी साथ-साथ कहा – जाओ, निकल जाओ। ढंग से काम नहीं करना है तो तुम्हारा यहाँ कोई काम नहीं। नौकर की तरह रहना है रहो, नहीं, बाहर जाओ। यहाँ तुम्हारे नखरे कोई नहीं उठा सकता। किसी को भी इतनी फुरसत नहीं है समझे?

और फिर चमेली आवेश में आकर चिल्ला उठी – मक्कार, बदमाश! पहले कहता था, भीख नहीं माँगता, और सबसे भीख माँगता है! रोज़-रोज़ भाग जाता है, पत्ते चाटने की आदत पड़ गई है। कुत्ते की दुम क्या कभी सीधी होगी? नहीं। नहीं रखना है हमें, जा, तू इसी वक़्त निकल जा...

किन्तु वह क्षोभ, वह क्रोध, सब उसके सामने निष्फल हो गए। जैसे मंदिर की मूर्ति कोई उत्तर नहीं देती, वैसे ही उसने भी कुछ नहीं कहा। केवल इतना समझ सका कि मालकिन नाराज़ हैं और निकल जाने को कह रही हैं।

इसी पर उसे अचरज और अविश्वास हो रहा है।

चमेली अपने-आप लज्जित हो गई। कैसी मूर्खा है वह। बहरे से जाने क्या-क्या कह रही थी? वह क्या कुछ सुनता है?

हाथ पकड़कर ज़ोर से एक झटका दिया और उसे दरवाज़े के बाहर धकेलकर निकाल दिया। गूँगा धीरे-धीरे चला गया। चमेली देखती रही।

करीब घंटेभर बाद शकुंतला और बसंता दोनों चिल्ला उठे — अम्मा! अम्मा!

'क्या है?' चमेली ने ऊपर ही से पूछा।

'गूँगा.... बसंता ने कहा। किन्तु कहने के पहले ही नीचे उठकर देखा— गूँगा ख़ून से भीग रहा था। उसका सिर फट गया था। वह सड़क के लड़कों से पिटकर आया था, क्योंकि गूँगा होने के नाते वह उनसे दबना नहीं चाहता था।.... दरवाज़े की दहलीज़ पर सिर रख कर वह कुत्ते की तरह चिल्ला रहा था...

और चमेली चुपचाप देखती रही, देखती रही कि इस मूक अवसाद में युगों का हाहाकार भरकर गूँज रहा है।

और ये गूँगे.... अनेक-अनेक हो संसार में भिन्न-भिन्न रूपों में छा गए हैं जो कहना चाहते हैं पर कह नहीं पाते। जिनके हृदय की प्रतिहिंसा न्याय और अन्याय को परखकर भी अत्याचार को चुनौती नहीं दे सकती, क्योंकि बोलने के लिए स्वर होकर भी — स्वर में अर्थ नहीं है..... क्योंकि वे असमर्थ हैं।

प्रश्न और अभ्यास

1. कहानी का शीर्षक 'गूँगे' है, 'गूँगा' नहीं जबकि कहानी एक ही गूँगा पात्र है। इस दृष्टि से शीर्षक का औचित्य समझाइए।

2. 'गूँगे' कहानी के आधार पर निम्नलिखित उक्तियों का स्पष्टीकरण कीजिए–
   (क) पुत्र की ममता ने इस विषय पर चादर डाल दी।
   (ख) इस मूक अवसाद में युगों का हाहाकार भरकर गूँज रहा है।
   (ग) उसने एक पशु पाला था, जिसके हृदय में मनुष्यों की-सी वेदना थी।
3. चमेली ने गूँगे को चिमटे से क्यों मारा? गूँगे के प्रति चमेली के व्यवहार को स्पष्ट कीजिए।
4. अगर बसंता गूँगा होता तो क्या चमेली का व्यवहार वैसा ही होता जैसा उसका 'गूँगे' के प्रति था?
5. 'गूँगे' कहानी को पढ़कर आपके मन में कौन-सा भाव उत्पन्न होता है और क्यों?
   (क) गूँगे के प्रति सहानुभूति का भाव।
   (ख) चमेली के प्रति क्रोध का भाव।
   (ग) गूँगे के प्रति रोष का भाव।
   (घ) 'हम सब गूँगे हैं' – यह भाव।
6. 'एक गूँगे की कहानी होते हुए भी इसका आरंभ संवाद से हुआ है।' इस कथन को दृष्टि में रखकर कहानी के संवादों पर प्रकाश डालिए।
7. इस कहानी के आधार पर सिद्ध कीजिए कि गूँगा दया या सहानुभूति नहीं, अधिकार चाहता है।
8. 'गूँगे' कहानी के आधार पर इस कथन की विवेचना कीजिए :
   'गूँगे में ममता है, अनुभूति है और है मनुष्यत्व।'
9. समाज में विकलांगों के प्रति हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए? अपना मत लिखिए।

□□

जगदीशचंद्र माथुर

(जन्म 1917 ई. मृत्यु 1978 ई.)

जगदीश माथुर का जन्म खुरजा (बुलन्दशहर) में हुआ। उनके पिता अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ शिक्षक थे। बाल्यकाल से ही श्री माथुर के हृदय और मस्तिष्क पर माता-पिता के त्याग एवं तपस्यामय जीवन के संस्कार जमते गए। विश्वविद्यालय की सभी परीक्षाओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया और 1941 ई. की आई.सी.एस. की परीक्षा में चौथा स्थान।

श्री माथुर विद्यार्थी जीवन में ही अपने अध्यवसाय, शील-स्वभाव एवं वाणी के प्रभाव से जनप्रिय बन गए। हाई स्कूल के छात्रजीवन से ही उन्हें नाटक और रंगमंच के संपर्क में आने का अवसर मिला। विद्यालय के विविध कार्यक्रमों एवं वार्षिकोत्सवों के लिए वे नाटक के लेखन व निर्देशन की व्यवस्था करते और प्रायः पात्रों की भूमिका में भी उतरा करते। हाई स्कूल के उपरांत जब वे प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए तो उनके प्रयास से विश्वविद्यालय के रंगमंच पर अभिनीत होने वाले हिन्दी नाटकों को गति मिली। इसके लिए उन्होंने सामाजिक समस्याओं को लेकर नाटक लिखे।

भारतीय प्रशासन के सदस्य के रूप में बिहार राज्य के शिक्षा सचिव, आकाशवाणी के महानिदेशक, सूचना और प्रसारण मंत्रालय के संयुक्त सचिव और तिरहुत डिवीज़न में कमिश्नर जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर कार्य करते रहे। सरकारी दायित्व का पूर्ण निर्वाह करते हुए भी श्री माथुर साहित्य-साधना में सदा संलग्न रहे। उनकी मृत्यु राममनोहर लोहिया अस्पताल, दिल्ली में हृदय का दौरा पड़ने से हुई।

इनका प्रथम एकांकी **मेरी बाँसुरी** सन् 1936 में **सरस्वती** में प्रकाशित हुआ। अब तक उनके चार पूर्णकालिक नाटक — कोणार्क, दशरथनंदन, शारदीया, पहला राजा

तथा दो एकांकी-संग्रह – भोर का तारा और ओ मेरे सपने प्रकाशित हो चुके हैं। इनसे हिन्दी एकांकियों को एक नई दिशा मिली है। **कुँवर सिंह की टेक और गगन सवारी** नामक कठपुतली नाटक विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त **दस तस्वीरें** और **जिन्होंने जीना जाना** नामक कृतियों मे रेखाचित्र और संस्मरण हैं।

भोर का तारा लेखक का बहु चर्चित लोकप्रिय एकांकी है जिसका सफल मंचन अनेक बार अनेक संस्थाओं द्वारा किया गया। इसे लेखक ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रदान की है और काव्यात्मक गुणों से संपन्न भी किया। इतना ही नहीं राष्ट्र-प्रेम की भावना से भी यह एकांकी ओत-प्रोत है। अतएव इसे पढते समय जयशंकर प्रसाद के नाटकों का स्मरण हो जाना स्वाभाविक है। रंगधर्मिता इस एकांकी की अतिरिक्त विशेषता है। इस एकांकी का पहला अधूरा गीत प्रकृति चित्रण की छायावादी परंपरा का प्रतीत होता है। दूसरा गीत प्रसाद जी के नाटकों के प्रेमगीतों का स्मरण दिलाता है और तीसरा उद्‌बोधन गीत है जिसमें दिनकर की-सी तेजस्विता और ललकार है। इस एकांकी मे केवल तीन पात्र हैं– शेखर, छाया और माधव। शेखर और छाया के संवाद मे प्रेम ही प्रेम है जबकि शेखर और माधव के संवाद में राष्ट्रप्रेम का क्रमिक विकास है। राष्ट्रप्रेम अपने चरमोत्कर्ष को वहाँ प्राप्त करता है जब शेखर अपने श्रृंगार काव्य – **भोर का तारा** को अंगीठी में डालकर जला डालता है और प्रयाग-गीत गाता हुआ जनसमूह के साथ हो जाता है:

नगाड़े पर डंका बजा है, तू शस्त्रों को अपने सँभाल।
बुलाती है वीरों की तुरही, तू उठ कोई रास्ता निकाल।

इस तरह इस एकांकी ने अपने समय के कवियों और लेखकों को स्वतंत्रता संग्राम को प्रज्वलित करने के लिए प्रेरणा दी थी।

15

भोर का तारा

पात्र

माधव : गुप्त साम्राज्य का कर्मचारी, शेखर का मित्र।
शेखर : उज्जयिनी का कवि।
छाया : शेखर की पत्नी।
स्थान : गुप्त साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी का एक गृह।
समय : पाँचवीं शती, सन् 455 के आसपास।

(कवि शेखर का गृह। सब वस्तुएँ अस्तव्यस्त। बाईं ओर एक तख्त पर मैली फटी हुई चद्दर बिछी है। उस पर एक चौकी भी रखी है और लेखनी इत्यादि भी। इधर-उधर भोजपत्र (या कागज़) बिखरे हुए पड़े हैं। एक तिपाई भी रखी है जिसपर कुछ पात्र रखे हैं।

पीछे की ओर एक खिड़की है। बायाँ दरवाज़ा अंदर जाने के लिए है और दायाँ बाहर से आने के लिए। दीवारों में कई आले या ताक हैं, जिसमें दीपदान या कुछ और वस्तुएँ रखी हैं।

शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है, या कभी-कभी तख़्त पर बैठकर कुछ लिखता जाता है। जान पड़ता है वह कविता बनाने में संलग्न है। तल्लीन मुद्रा। जो कुछ वह कहता है उसे लिखता भी जाता है।)

शेखर : "अंगुलियाँ आतुर तुरत पसार –
खींचते नीले पट का छोर ....।"
(दुबारा कहता है, फिर लिखता है।)
"टँका जिसमें जाने किस ओर
स्वर्ण कण .... स्वर्ण कण ...."

(पूरी करने के प्रयास में तल्लीन है, इतने में बाहर से माधव का प्रवेश – सांसारिकता का भाव और जानकारी उसके चेहरे से प्रकट है। द्वार के पास खड़ा होकर थोड़ी देर तक वह कवि की लीला देखता रहता है। उसके बाद :)

माधव : शेखर।

शेखर : (अभी सुना ही नहीं। एक पंक्ति लिखकर) स्वर्ण कण प्रिय हो रहा निहार।

माधव : शे ....खर!

शेखर : (चौंककर)कौन? .... ओह माधव! (उठकर माधव की ओर बढ़ता है।)

माधव : क्या कर रहे हो शेखर?

शेखर : यहाँ आओ माधव, यहाँ। (उसके कंधों को पकड़कर तख्त पर बिठाता हुआ) यहाँ बैठो। (स्वयं खड़ा है।) माधव, तुमने भोर का तारा देखा है कभी?

माधव : (मुस्कुराते हुए) हाँ। क्यों?

शेखर : (बड़ी गंभीरतापूर्वक) कैसा अकेला–सा, एकटक देखता रहता है। जानते हो क्यों?.... नहीं जानते। (तख्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ) बात यह है कि एक बार रजनीबाला अपने प्रियतम प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहनकर, जिसमे सोने के तारे टँके थे। ज्योंही निकट पहुँची,

त्योंही लाज की आँधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली। (रुककर) फिर क्या हुआ····

माधव : (कुछ उद्योग के बाद) प्रभात अकेला रह गया?

शेखर : नहीं। उसने अपनी अँगुलियाँ पसारकर उसके नीले पट का छोर खींच लिया। जानते हो, यह भोर का तारा है न, उसी छोर में टँका हुआ सोने का कण है, एकटक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है।····क्यों?

माधव : बहुत ऊँची कल्पना है! लिख चुके क्या?

शेखर : अभी तो और लिखूँगा। बैठा ही था कि इतने में तुम आ गए···

माधव : (हँसते हुए) और तब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर ही बैठे थे, आकाश पर नहीं (रुककर) मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर?

शेखर : (भोलेपन से) क्यों?

माधव : तुम्हारी परियों और तारों की दुनिया में मैं मनुष्य की दुनिया लेकर आ गया।

शेखर : (सच्चेपन से) कभी-कभी तो मुझे तुममें भी कविता दीख पड़ती है।

माधव : मुझमें?········(ज़ोर से हँसकर) तुम अठखेलियाँ करना भी जानते हो?··········(गंभीर होते हुए) शेखर, कविता तो कोमल हृदय की चीज़ है। मुझ जैसे कामकाजी राजनीतिज्ञों और सैनिकों के तो छूनेभर से मुरझा जाएगी। हम लोगों के लिए तो दुनिया की और ही उलझनें बहुत हैं।

शेखर : माधव, तुमने कभी यह भी सोचा है कि इन उलझनों से बाहर निकलने का मार्ग भी हो सकता है?

माधव : और हम लोग करते ही क्या है? रात-दिन मनुष्यों की नई-नई उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते रहते हैं।

शेखर : यही तो नहीं करते। तुम राजनीतिज्ञ और मंत्री लोग बड़ी संजीदगी के साथ अमीरी-ग़रीबी, युद्ध और संधि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो परंतु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते। कवि इसका प्रयत्न करते हैं पर उन्हें पागल····

माधव : कवि········(**अवहेलनापूर्वक**) तुम उलझनों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास करते हो। तुम सपना देखते हो कि जीवन सौन्दर्य है, हम जागते रहते हैं और देखते हैं कि जीवन कर्तव्य है।

शेखर : (**भावुकता से**) मुझे तो सौन्दर्य ही कर्तव्य जान पड़ता है। मुझे तो जहाँ सौन्दर्य दीख पड़ता है, वहीं कविता दीख पड़ती है, वहीं जीवन दीख पडता है। (**स्वर बदलकर**) माधव, तुमने सम्राट के भवन के पास, राजपथ के किनारे उस अंधी भिखमंगी को कभी देखा है?

माधव : (**मुसकराहट रोकते हुए**) हाँ।

शेखर : मैं उसे सदा भीख देता हूँ। जानते हो क्यों?

माधव : क्यों! (**कुछ सोचने के बाद**) "दया सज्जनस्य भूषणम्।"

शेखर : दया? हूँ। (**ठहरकर**) मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूँ, क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक व्यथा झलक पड़ती है। उसका गहरा झुर्रीदार चेहरा, उसके काँपते हुए हाथ, उसकी आँखों के बेबस गड्ढे (**एक तरफ़ एकटक देखते हुए, मानो इस मानसिक चित्र में खो गया हो**) उसकी झुकी हुई

कमर—माधव मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढाँचे में ढाला हो।

माधव : (**इस भाषण से उसका अच्छा-खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है। खड़े होकर शेखर पर शरारत-भरी आँखें गड़ाते हुए**) शेखर, टाट में रेशम का पैबंद क्यों लगाते हो। ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।

शेखर : (**सरल भाव से**) किस देवी की?

माधव : (**अर्थपूर्ण स्वर में**) यह तो उसके पुजारी से पूछो।

शेखर : मैं तो नहीं जानता, किस पुजारी को?

माधव : अपने को आज तक किसी ने जाना है, शेखर? (**हँस पड़ता है। शेखर कुछ समझकर झेंपता-सा है**) पागल!...... (**गंभीर होकर बैठते हुए**) शेखर, सच बताओ तुम छाया को प्यार करते हो?

शेखर : (**मंद गहरे स्वर में**) कितनी बार पूछोगे?

माधव : बहुत प्यार करते हो?

शेखर : माधव, जीवन में मेरी दो ही तो साधनाएँ हैं, (**तख़्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ**) छाया का प्यार और कविता। (**खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है।**)

माधव : और छाया?

शेखर : (**वही गहरा स्वर**) हम दोनों नदी के दो किनारे हैं, जो एक-दूसरे की ओर मुड़ते हैं पर मिल नहीं पाते।

माधव : (**उठकर शेखर के कंधे पर हाथ रखते हुए**) सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है।

शेखर : नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है। मेरे लिए तो उसका हृदय सूखा हुआ है।

माधव : क्यों?

शेखर : तुम पूछते हो क्यों, तुम भी तो सम्राट स्कंदगुप्त के दरबार में हो। देवदत्त एक मंत्री है। भला एक मंत्री की बहन का एक मामूली कवि से क्या संबंध?

माधव : मामूली कवि! शेखर, तुम अपने को मामूली कवि समझते हो?

शेखर : शेखर! और क्या समझूँ – राजकवि?

माधव : सुनो शेखर, तुम्हें एक ख़बर सुनाता हूँ।

शेखर : ख़बर?

माधव : हाँ! कल रात को राजभवन गया था।

शेखर : इसमें तो कोई नई बात नहीं। तुम्हारा तो काम ही यह है।

माधव : नहीं, कल एक उत्सव था। स्वयं सम्राट ने कुछ लोगों को बुलाया था। गाने हुए, नाच हुए, दावत हुई। एक युवती ने बहुत सुंदर गीत सुनाया। सम्राट तो उस गीत पर रीझ गए।

शेखर : (उकताकर) आख़िर तुम यह सब मुझे क्यों सुना रहे हो माधव?

माधव : इसलिए कि सम्राट ने उस गीत बनाने वाले का नाम पूछा, पता चला कि उसका नाम था – शेखर।

शेखर : (चौंककर) क्या?

माधव : अभी और तो सुनो। उस युवती ने सम्राट से कहा कि अगर आपको यह गाना पसंद है ता इसके लिखने वाले कवि को अपने दरबार में बुलाइए। अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जाएगा।

शेखर : मैं?

माधव : **(अभिनय करते हुए, झुककर)** श्रीमान्, क्या आप ही का नाम शेखर है?

शेखर : मैं जाऊँगा सम्राट के दरबार में? माधव, सपना तो नहीं देख रहे हो?

माधव : सपने तो तुम देखा करते हो।····लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहाँ हुआ है?

शेखर : हाँ, वह युवती कौन है?

माधव : अब यह भी बताना होगा? तुम भी बुद्धू हो। क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे?

शेखर : ओह!······छाया! **(माधव का हाथ पकड़ते हुए)** –तुम कितने····· कितने अच्छे हो।

माधव : और सुनो।····सम्राट ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वह तक्षशिला जाकर वहाँ के क्षत्रप वीरभद्र के विद्रोह को दबाएँ। आर्य देवदत्त के साथ मैं भी जाऊँगा, उनका मंत्री बनकर। समझे?

शेखर : **(स्वप्न-से में)** तो क्या सच ही छाया ने कहा? सच ही?

माधव : शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्षशिला चल देंगे।····उसके बाद····उसके बाद छाया कहाँ रहेगी? भला बताओ तो?

शेखर : माधव!········**(माधव हँस पड़ता है)** इतना भाग्य? इतना? विश्वास नहीं होता।

माधव : न करो विश्वास।····लेकिन भलेमानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी? ये बिखरे हुए कागज़, टूटी चटाई, फटे हुए वस्त्र। शेखर, लापरवाही की सीमा होती है।

शेखर : मैं कोई इन बातों की परवाह करता हूँ!

माधव : और फिर?

शेखर : मैं परवाह करता हूँ फूल की पंखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (भावोद्रेक से) संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोदी में समेटनेवाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने पर टिमटिमानेवाले तारे की·····

माधव : एक चीज़ रह गई।

शेखर : क्या?

माधव : जिसे तुम दिन में वृक्षों के नीचे फैली देखते हो (उठकर खड़ा हो जाता है।)

शेखर : वृक्षों के नीचे?

माधव : जिसे तुम दर्पण में झलकती देखते हो।

शेखर : दर्पण में?

माधव : जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो। (निकट आ गया है।)।

शेखर : (समझकर, बच्चों की तरह) छाया!

माधव : (मुसकराते हुए) छाया?

(पर्दा गिरता है)

[2]

(उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं। कमरा सजा हुआ साफ़ है। दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं। कोने में धूपदान है। सामने तख़्त पर चटाई और लिखने-पढ़ने का सामान है। बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रंथ रखे हुए हैं। दूसरी ओर एक पीढ़ा है जिसके निकट मिट्टी की, किन्तु कलापूर्ण एक अँगीठी रखी हुई है। दीवार के एक भाग पर अलगनी है जिस पर कुछ धोतियाँ इत्यादि टँगी हैं।)

+7

छाया-सौन्दर्य की प्रतिमा, चांचल्य, उन्माद और गांभीर्य का जिसमें स्त्री सुलभ सम्मिश्रण है, गृहस्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएं स्थान पर सँभालकर रख रही है। साथ ही कुछ गुनगुनाती भी जाती है। जाड़ा होने के कारण तापने के लिए उसने अँगीठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है। कुछ देर बाद पीढ़े पर बैठकर वह अँगीठी को ठीक करती है। उसकी पीठ द्वार की ओर है। अपने कार्य और गाने में इतनी संलग्न है कि उसे बाहर पैरों की आवाज़ नहीं सुनाई देती।

प्यार की है क्या यह पहचान?
चाँदनी का पाकर नव स्पर्श, चमक उठते पत्ते नादान,
पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान,
सूर्य का सुन कोमल पद-चाप, फूट उठता चिड़ियों का गान;
तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोए प्राण।
प्यार की है क्या यह पहचान?

(धीरे से शेखर का प्रवेश) कंधे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में ग्रंथ। गले में फूलों की माला है। द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुसकराते हुए छाया का गीत सुनता है।

शेखर : **(थोड़ी देर बाद, धीरे से)** छाया! **(छाया नहीं सुन पाती है। गाना जारी है। फिर कुछ समय बाद)** छाया!

छाया : **(चौंककर खड़ी हो जाती है। एक साथ मुख फेरकर)** ओह!

शेखर : **(तख़्त की ओर बढ़ता हुआ)** छाया, तुम्हें एक कहानी मालूम है?

छाया : **(उत्सुकतापूर्वक)** कौन-सी?

शेखर : **(छोटी चौकी पर पहले तो अपनी बगलवाला ग्रंथ रखता है,**

और फिर उस पर दुशाला रखते हुए) एक बहुत सुंदर-सी।

छाया : सुनें, कैसे कहानी है?

शेखर : (बैठकर) एक राजा के यहाँ एक कवि रहता था, युवक और भावुक। राजभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे, राजा तो उसपर निछावर था। रोज़ सुबह राजा उसके मुँह से नई कविता सुनता, नई और सुंदर कविता।

छाया : हूँ? (पीढ़े पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है।)

शेखर : परंतु उसमें एक बुराई थी।

छाया : क्या?

शेखर : वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था। यदि राजा उससे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यों नही सुनाते तो वह उत्तर देता, ''मैं केवल रात के तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूँ।

छाया : राजा उससे रूष्ट नहीं हुआ?

शेखर : नहीं। उसने सोचा, कवि के घर पर चलकर देखा जाए कि इसमें रहस्य क्या है। रात को तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदलकर कवि के घर के पास खिडकी के नीचे बैठ गया।

छाया : उसके बाद?

शेखर : उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया। थोड़ी देर मे कहीं से बहुत मधुर, बहुत सुरीला स्वर राजा के कान में पडा। राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आपसे आप चलने लगी।

छाया : फिर?

शेखर : फिर क्या! राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था। भला बताओ, क्यों नहीं पूछा?

छाया : बताऊँ?

शेखर : हाँ।

छाया : राजा को यह मालूम हो गया कि उस गायिका के स्वर में ही कवि की कविता थी। और बताऊँ? **(खड़ी हो जाती है)**

शेखर : **(मुसकराते हुए)** छाया, तुम......

छाया : **(टोककर, शीघ्रता और चंचलता के साथ)** वह गायिका और कोई नहीं उस कवि की पत्नी थी। और बताऊँ? उस कवि को कहानी सुनाने का बड़ा शौक था, झूठी कहानी। और बताऊँ? उस कवि के बाल लंबे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थ, माथे पर........ **(इस बीच में शेखर की मुसकराहट हलकी हँसी में परिणत हो गई है, यहाँ तक कि इन शब्दों तक पहुँचते-पहुँचते दोनों ज़ोर से हँस पड़ते हैं।)**

शेखर : **(थोड़ी देर बाद गंभीर होते हुए)** लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ तुम्हारे गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्या होती? तुम तो मेरी कविता हो!

छाया : **(बड़े गंभीर, उलाहना-भरे स्वर में)** प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है।

शेखर : क्या मतलब तुम्हारा?

छाया : कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है, स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूखी

चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है तब सोचता है, ''चलो थोड़ा मनबहलाव ही कर लें।'' स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानो दुनिया में और कुछ हो ही न। और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता भी नीरव हो जाती है, तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं और वह ऐसे भागता है मानो पिंजड़े से छूटा हुआ पंछी। और स्त्री के लिए फिर वही अँधेरा, फिर वही सूनापन!

शेखर : **(मंद स्वर में)** छाया, तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो।

छाया : क्या एक दिन तुम मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे?

शेखर : लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ?

छाया : ऊँहूँ, मैं नहीं मान सकती।

शेखर : सुनो तो, मेरे लिए जीवन में ऐसी सूखी चट्टानें थोडे ही हैं। मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी वाटिका है। मैं उसे प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे तुम्हारे हृदय में सौन्दर्य दीखता है। जिस रोज़ मैं तुम से दूर हो जाऊँगा उस रोज़ मैं सौन्दर्य से दूर हो जाऊँगा। अपनी कविता से दूर हो जाऊँगा······· **(कुछ रुककर, मेरी कविता मर जाएगी।)**

छाया : नहीं शेखर, मैं मर जाऊँगी, किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी, बहुत दिन रहेगी।

शेखर : मेरी कविता! **(कुछ देर बाद)**···········छाया, आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बताने वाला हूँ, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुझसे छिपा रखा था।

छाया : रहने दो, तुम सदा ऐसे भेद और ऐसी कहानियाँ सुनाया करते हो।

शेखर : नहीं।.......अच्छा, तनिक उस दुशाले को उठाओ। (**छाया उठाती है**) उसके नीचे कुछ है। (**छाया उस ग्रंथ को अपने हाथ में लेती है।**) उसे खोलो.......क्या है?

छाया : (**आश्चर्यान्वित होकर**) ओह, (**ज्यों-ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है।**) 'भोर का तारा'! उफ्फोह! यह तुमने कब लिखा? मुझसे छिपाकर?

शेखर : (**हँसते हुए। विजय का-सा भाव**) छाया, तुम्हें याद है उस दिन की, जब माधव के साथ मैं तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था?

छाया : (**शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर**) उस दिन को कैसे भूल सकती हूँ, शेखर? उसी दिन तो भैया को तक्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उसी दिन तो उन्होंने तुम्हें और मुझे माता जी का वह पत्र दिखाया था जिसने हम दोनों को सर्वदा के लिए बाँध दिया।

शेखर : हाँ छाया, उसी दिन, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरंभ किया था। (**गहरे स्वर में**) आज वह समाप्त हो गया।

छाया : शेखर, यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है।

शेखर : उसे यहाँ लाओ। (**हाथ में लेकर चाव से खोलता हुआ**) 'भोर का तारा'! छाया, यह काव्य बड़ी लगन का फल है। कल मैं इसे सम्राट की सेवा में ले जाऊँगा। और, फिर जब मैं उस सभा में इसे सुनाना आरंभ करूँगा तब, तब, सारी उज्जयिनी की आँखें मेरे ऊपर होंगी। महाकाव्य, महाकाव्य! उस समय सम्राट गद्गद हो जाएँगे और मैं कवियों का सिरमौर हो जाऊँगा। छाया, बरसों बाद दुनिया पढ़ेगी कवि

कुल-शिरोमणि शेखर-कृत 'भोर का तारा' ····हा, हा, हा····(विभोर)

(छाया उसकी ओर एकटक देख रही है। सहसा उसके चेहरे पर चिन्ता की रेखा खिंच जाती है। शेखर हँस रहा है।)

छाया : शेखर! (वह हँसे जा रहा है) शेखर! (शेखर की दृष्टि उस पर पड़ती है।)

शेखर : (सहसा चुप होकर) क्यों छाया, क्या हुआ तुमको?

छाया : (चिन्तित स्वर में) शेखर! (चुप हो जाती है।)

शेखर : कहो!

छाया : शेखर, तुम इसे संभाल कर रखोगे न?

शेखर : बस इतनी ही-सी बात?

छाया : मुझे डर लगता है कि····कि····कहीं यह नष्ट न हो जाए, कोई इसे चुरा न ले जाए और फिर तुम····

शेखर : हा, हा, हा,····पगली! ऐसा क्यों होने लगा? सोचने से ही डर गई! छाया, छाया, तेरे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है, बहुत प्रसन्न!····इधर देखो छाया, हम लोग कितने सुखी हैं। और तुम हो तक्षशिला के क्षत्रप देवदत्त की बहन और उज्जयिनी के सबसे बड़े कवि शेखर की पत्नी!····तक्षशिला का क्षत्रप और उज्जयिनी का कवि। हूँ, हूँ, हूँ!····क्यों छाया?

छाया : (मंद स्वर में) तुम सच कहते हो, शेखर, हम लोग बहुत सुखी हैं।

शेखर : (मग्नावस्था में) बहुत सुखी······

(सहसा बाहर कोलाहल। घोड़े की आवाज़। शेखर और छाया छिटककर चैतन्य खड़े हो जाते हैं। शेखर द्वार की ओर बढ़ता है।)

शेखर : कौन है?

शेखर और

छाया : माधव!

शेखर : माधव, तुम यहाँ कहाँ?

माधव : (**दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ**) शेखर, छाया (**फिर उस कमरे पर डरती सी आँखें डालता है, मानो उस सुरम्य घोंसले को नष्ट करने से भय खाता हो। कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है।**) मैं तुम दोनों से भीख माँगने आया हूँ।

(**छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है।**)

छाया : भीख माँगने, तक्षशिला से?

शेखर : तक्षशिला से? माधव, क्या बात है?

माधव : (**धीरे-धीरे, मजबूती के साथ बोलना प्रारंभ करता है, परंतु ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों स्वर में भावुकता आती है।**) हाँ, मैं तक्षशिला से ही आ रहा हूँ। यहाँ तक कैसे आ गया, यह मैं नहीं जानता। हाँ, यह जानता हूँ कि आज गुप्त साम्राज्य संकट में है और हमें घर-घर भीख माँगनी पड़ेगी।

शेखर : गुप्त साम्राज्य संकट में है! क्या कह रहे हो माधव?

माधव : (**संजीदगी के साथ**) शेखर, पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है। हूणों का सरदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ़ आया है।

छाया : (**भयाक्रांत होकर**) तोरमाण!

माधव : उसने सिन्धु नदी को पार कर लिया है, उसने अंभी राज्य को नष्ट कर दिया है। उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है....

छाया : (**सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो उसकी भुजा पकड़ती हुई**) तक्षशिला?

माधव : (**उसी स्वर में**) सारा पंचनद आज उसके भय से काँप रहा है। एक के बाद एक गाँव जल रहे हैं, हत्याएँ हो रही हैं अत्याचार हो रहा है। शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीडितो के हाहाकार से गूँजने लगेगा। शेखर, छाया – मैं तुमसे भीख माँगता हूँ – नई भीख माँगता हूँ – सम्राट स्कंदगुप्त की, देश की, इस संकट में मदद करो।

(**बाहर भारी कोलाहल! शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं।**)

देखो बाहर जनता उमड़ रही है। शेखर, तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभाव है। तुम अपने शब्दों के बल पर सोई हुई आत्माओं को जगा सकते हो, युवकों में जान फूँक सकते हो (**शेखर सुने जा रहा है। चेहरे पर भावों का आवेग। मस्तक पर हाथ रखता है।**) आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है। शेखर, ओजमयी कविता द्वारा तुम गाँव-गाँव में जाकर वह आग फैला दो जिससे हज़ारों और लाखों भुजाएँ अपने सम्राट और देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। (**कुछ रुककर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है, जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो।**) कवि, देश तुमसे बलिदान माँगता है।

छाया : (**अत्यंत दर्द-भरे करुण स्वर में**) माधव! माधव!!

माधव : (**मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है, फिर थोड़ी देर बाद**) छाया, उन्होंने कहा था, "मेरे प्राण क्या चीज़ हैं, इससे तो सहस्रों मिट गए और सहस्रों को मिटना है।"

शेखर : (**मानो नींद से जगा हो**) किसने?

माधव : आर्य देवदत्त ने, अंतिम समय!

छाया : (जैसे बिजली गिरी हो।) माधव, माधव तो क्या भैया·····

माधव : उन्होंने वीरगति पाई है छाया। (छाया पृथ्वी पर घुटनों पर गिर जाती है। चेहरे को हाथों से ढँक लिया है। इस बीच माधव कहे जाता है, शेखर एक-दो बार घूमता है। उसके मुख से प्रकट होता है मानो डूबते को सहारा मिलनेवाला है।) तक्षशिला से चालीस मील दूर विद्रोही वीरभद्र की खोज में हूणों के दल के निकट जा पहुँचे। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि वीरभद्र हूणों से मिल गया है। उनके बीस सैनिक आगे हूणों में फँसे हुए थे। वे तक्षशिला लौट सकते थे परंतु एक सच्चे सेनापति की भाँति उन्होंने अपने सैनिकों के लिए अपने प्राण संकट में डाल दिए और मुझे तक्षशिला और पाटिलपुत्र को चेतावनी देने के लिए भेजा गया है। मैं आज··········

(सहसा रुक जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शेखर पर जा पड़ती है। शेखर चौकी के पास खड़ा है। उसके चेहरे पर दृढ़ता और विजय का भाव है। बाहर कोलाहल कम है। शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रंथ "भोर का तारा" को उठाता है। इसी समय माधव की दृष्टि उस पर पड़ती है। शेखर पुस्तक को कुछ देर चाव से, बिछुड़न से, प्रेम से देखता है। उसके बाद आगे बढ़कर अँगीठी के निकट जाकर उसमें जलती हुई अग्नि को देखता है और धीरे-धीरे उस पुस्तक को फाड़ता है। इस आवाज़ को सुनकर छाया अपना मुख ऊपर को करती है।)

छाया : (उसे फाड़ते हुए देखकर) शेखर!

(लेकिन शेखर ने उसे अग्नि में डाल दिया है। लपटें उठती हैं। छाया फिर गिर पड़ती है। शेखर लपटों की तरफ देखता है। फिर छाया की ओर दृष्टिपात करता है, एक सूखी हँसी के बाद बाहर चल देता है। कोलाहल कम होने के कारण उसके पैरों की आवाज़ थोड़ी दूर तक सुनाई देती है।)

(माधव द्वार की ओर बढ़ता है।)

छाया : (अत्यंत पीड़ित स्वर में) माधव, तुमने तो मेरा प्रभात नष्ट कर दिया।

(माधव उसके ये शब्द सुनकर बाहर जाता-जाता रुक जाता है। मुड़कर छाया की ओर देखता है, पीछे की खिड़की के निकट जाकर उसे खोल देता है। इससे बाहर का कोलाहल स्पष्ट सुनाई देता है। शेखर और उसके साथ पूरे जन-समूह के गाने का स्वर सुन पड़ता है)

''नगाड़े पै डंका बजा है, तू शस्त्रों को अपने सँभाल,
बुलाती है वीरों की तुरही, तू उठ कोई रास्ता निकाल।''

(शेखर का स्वर तीव्र है। माधव खिड़की को बंद कर देता है। पुनः शांति। इसके बाद मंद परंतु दृढ़ स्वर में बोलता है।)

माधव : छाया, मैंने तुम्हारा प्रभात नष्ट नहीं किया। प्रभात तो अब होगा। शेखर तो अब तक भोर का तारा था। अब वह प्रभात का सूर्य होगा।

(छाया धीरे-धीरे अपना मस्तक उठाती है।)
(पर्दा गिरता है)

प्रश्न-अभ्यास

1. ' अँगुलियाँ आतुर तुरत पसार – ' पंक्तियो के कल्पना-सौन्दर्य को स्पष्ट कीजिए।
2. ''तुम्हारी परियों और तारो की दुनिया में मैं मनुष्य की दुनिया लेकर आ गया।'' माधव के इस कथन का अभिप्राय समझाइए।

3. प्रस्तुत एकांकी में जीवन की समस्याओं के संदर्भ में कवि और राजनीतिज्ञ के दृष्टिकोणों में क्या अंतर बतलाया गया है?
4. "प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है।" छाया ने ऐसा क्यों कहा है? आप इससे कहाँ तक सहमत हैं?
5. शेखर ने अपने 'भोर का तारा' महाकाव्य को क्यों जला दिया?
   (क) वह छाया से घृणा करने लगा था।
   (ख) युद्धकाल में उसके देश को प्रेम-काव्य नहीं वीरता और बलिदान का काव्य चाहिए था।
   (ग) शेखर माधव के कथन से अत्यंत उद्विग्न हो उठा था।
   (घ) वह देवदत्त के शहीद हो जाने से दु:खी था।
6. "शेखर तो अब तक भोर का तारा था, अब वह प्रभात का सूर्य होगा।" माधव के इस कथन का अभिप्राय समझाइए।
7. इस एकांकी से काव्य संबंधी उक्तियों का चयन कीजिए।
8. 'भोर का तारा' शीर्षक की उपयुक्तता पर चर्चा करते हुए कोई दूसरा शीर्षक बताइए।
9. "इस एकांकी के संवाद संक्षिप्त, अभिव्यंजक एवं चरित्रों की विशेषताओं को उद्घाटित करने वाले हैं। उपयुक्त उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।
10. विद्यालय के किसी उत्सव के अवसर पर इस एकांकी का पूरी तैयारी के साथ अभिनय कीजिए।
11. प्रसाद जी की 'पुरस्कार' कहानी पढ़िए और 'भोर का तारा' एकांकी से उसकी तुलना कीजिए।



शब्दार्थ एवं टिप्पणियाँ

जीवन और मरण

उपादान	= सामग्री।
प्रतिकृति	= प्रतिरूप, सादृश्य, प्रतिबिंब।
उन्मुख	= उत्कंठित, उत्सुक।
अग्रसर	= आगे जाने वाला, अग्रगामी।
तारतम्य	= दो वस्तुओं के परस्पर घट-बढ़ कर होने का भाव, सिलसिला।
अखाद्य	= न खाने योग्य।
पदानुसरण	= पदचिह्न पर चलना, अनुकरण करना।
निग्रह	= संयम, नियंत्रण।
अपरिग्रह	= संग्रह न करना।
परिणत	= परिणाम या रूपांतर को प्राप्त, पुष्ट।
प्रतिहिंसा	= हिंसा के बदले में की जाने वाली हिंसा।
आत्मग्लानि	= पश्चाताप, हीनता का भाव।
प्रतीक	= वह जिस पर किसी का आरोप किया गया हो, प्रतिरूप।
अनन्य	= एकनिष्ठ, एकाग्र।

लोक मंगल

शिलान्यास	= भवन आदि की नींव रखना।

विभूति	=	अलौकिक शक्ति, समृद्धि।
अधिनायकता	=	तानाशाही।
असंदिग्धता	=	जिसके संबंध में कोई भ्रम न हो।
कुमार्गगामी	=	गलत रास्ते पर जाने वाला।
कृतार्थता	=	आभार प्रकट करने का भाव।
पूर्वार्द्ध	=	पहले का आधा भाग।
प्रदीप्त	=	दीप्ति युक्त, जगमगाता हुआ।
चैतन्य	=	चेतना, ज्ञानयुक्त।
शिखर	=	पहाड़ का सबसे ऊँचा भाग, सबसे श्रेष्ठ।
सामयिक	=	समयोचित, समय के विचार से उपयुक्त।
समाधान	=	निराकरण, संदेह निवारण।
परसना	=	खाने वालों के सामने भोज्य वस्तुएँ रखना।
कर्णधार	=	नेता, दुःखादि का निवारण करने वाला।
जीवन-वृत्ति	=	जीवन का चुनाव, जीवन का पेशा, तरीका।
पिण्डारी	=	दक्षिण में रहने वाली एक जाति, डाकूओ का समूह, जो लूटमार करता रहता था।
आवाज़ ए खल्क नक्कार ए खुदा	=	सामान्य जनता की आवाज़ को ईश्वर की आवाज़ समझो।

कबीर साहब से भेंट

समाराधना	=	श्रेष्ठ पूजा, उपासना।
मद्धिम	=	हलका, धीमा।
सकाम	=	कामना युक्त, फल की कामना से युक्त।

निष्काम	=	कामना रहित, फल की कामना से रहित।
किंचित	=	कुछ, थोड़ा।
अंत्यज	=	हरिजन, अछूत।
परिपाटी	=	परंपरागत ढंग से, चला आता हुआ क्रम।
प्रेरित	=	किसी कार्य में प्रवृत्त किया हुआ, भेजा हुआ।
परमार्थ	=	उत्कृष्ट वस्तु, सत्य, मोक्ष।
विकराल	=	भयंकर, भीषण।
वर्ग भावना	=	धनी-निर्धन के रूप में भिन्न-भिन्न वर्ग के अस्तित्व की भावना, स्वजातीयता या समानधर्मी के रूप में वर्ग भावना।
विसर्जन	=	त्याग, फेंकना, बहाना।
एकात्मकता	=	अभिन्नता, "सभी एक हैं" की भावना।
तलहत्थी	=	हथेली।
प्रवृत्ति	=	मन का किसी विषय की ओर झुकाव होना।
निवृत्ति	=	प्रवृत्ति का अभाव, छुटकारा, विरत होना।
शमन	=	दूर करना, दबाना, समाप्ति।
अनुष्ठान	=	धार्मिक कार्य।
जुमा	=	शुक्रवार।
संभ्रांत	=	सम्मानित, श्रेष्ठ, प्रतिष्ठित।

बाज़ार दर्शन

दरकार	=	ज़रूरत।
परिमित	=	सीमित।
चिह्न	=	पहचान।

कृश = निर्बल, दुबला।
क्षुद्र = छोटा।
अप्रयोजनीय = बिना उद्देश्य के।
अकिंचित्कर = तुच्छ, सामान्य, जिसके लिए कुछ न हो सके।
सरोकार = लगाव, प्रयोजन।
अपवार्थ = अयोग्य।
स्वाभिमान को सेंक
मिल जाता है = अंहकार का अनुभव कर मनुष्य हर्ष का अनुभव करता है।
कृतघ्न = जो किए उपकार को न माने।
अपर = अतिरिक्त, दूसरा।
स्पिरिचुअल = आध्यात्मिक, जीवात्मा एवं परमात्मा संबंधी।
स्पृहा = इच्छा।
प्रतिपादन = किसी विषय का सप्रमाण कथन, निरूपण।
सरोकार = संबंध, मतलब।

सुभाष मानव : सुभाष महामानव

गरज़ = मतलब, जरूरत।
सामंत = बड़ा जमींदार।
होता = यज्ञकर्ता।
सैन = नेत्रों का इशारा।
चिक = बाँस की तीलियों का बना झीना पर्दा।
कूतना = कीमत आँकना, मूल्यांकन करना।
सिपहसालार = सेनापति।
पछाड़ = पराजय।

गादी	=	गद्दी।
भर्त्सना	=	निन्दा, तिरस्कार।
इल्जाम		आरोप
हक्दार	=	अधिकारी।
निगहबानी	=	रखवाली।
ज्येष्ठ	=	बड़ा।
कुंकुम	=	रोली।
अवज्ञा	=	किसी आज्ञा या कानून को न मानना, अनादर।
अमित	=	अत्यधिक।
मरण-न्योतती	=	मृत्यु को निमंत्रण देने वाली।
मनचीता	=	मन का चाहा हुआ।
प्रभुचीता	=	ईश्वर का चाहा हुआ।

छूटे हुए स्वच्छंद पत्ते

स्वच्छंद	=	स्वतंत्र, मुक्त।
काल	=	मृत्यु।
कायापलट	=	पूरी तरह से बदल जाना।
दक्षिणायन	=	दक्षिण की ओर, सूर्य छह महीने के लिए विषुवत् रेखा से दक्षिण की ओर रहता है।
संप्रति	=	इस समय, अब।
जड़मूढ़	=	स्तब्ध, बिना हिलेडुले।
क्षपणक	=	बौद्ध या जैन सन्यासी।
रूआबदार	=	रोबदार, दबदबा वाला, धाक वाला।
आर्द्रता	=	नमी।
नवसर्जन	=	नवीन सृष्टि, नव निर्माण।
तन्मयता	=	तल्लीनता, एकाग्रचित्त होना।
ग्रंथित	=	गूँथा हुआ, क्रमबद्ध किया हुआ, रचित।

द्विविधा	= दो प्रकार से असमंजस।
विषाद	= दु:ख, उदासी, खेद।
क्रीड़ा प्रिय	= खेल प्रिय, खेल का शौकीन।
अध:पात	= नीचे गिरना।
कंवली	(कँवल) कमल।

संस्कृति का प्रश्न

दीर्घ निकाय	= एक प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रंथ।
अग्नि परीक्षा	= कठिन परीक्षा।
आत्मघाती	= स्वयं की हानि चाहने वाला।
वज्राघात	= आघात।
समन्वयात्मक समष्टि	= विभिन्न परस्पर विरोधी प्रतीत होते वाले भावों और वस्तुओं का मेल।
समष्टि	= संपूर्णता, सामूहिकता।
सापेक्ष	= पारस्परिक आवश्यकता के अनुभव की स्थिति।
मनस्तत्व	= मन, बुद्धि एवं अहंकार।
अन्वेषण	खोज।
चिरंतन	= बहुत दिनों का, पुरातन।
अंतश्चेतना	= आंतरिक प्राण-शक्ति।
स्रोतस्विनी	= नदी।
प्रतिपादन	= सिद्ध करना।
उपक्रम	= आरंभ, प्रस्तावना।
दुःखबोध जनित करुणा	= दु:ख के अनुभव से उत्पन्न करुणा।
यथार्थोन्मुखी	= वास्तविक को चित्रित करने वाली।
अपरिग्रही	= संग्रह न करने वाला।
सर्वग्रासी	= सब कुछ नष्ट करने वाला।
दाय	= देने योग्य, दान।

पैतृक धन	=	पिता आदि से प्राप्त धन।

सीप और चाँदी

उजास	=	चमक, उजाला।
रूपहली संस्कृति	=	बाहरी तड़क-भड़क की सभ्यता, मात्र दिखावे की संस्कृति।
निकल	=	एक धातु जो चाँदी जैसी सफेद होती है लेकिन बहुत सस्ती होती है।
पारावार	=	समुद्र।
निर्विशेष	=	सदा एक रूप रहने वाला।
क्रेय-वस्तु	=	खरीदने योग्य वस्तु।
प्राधान्य	=	प्रमुखता।
मयस्सर	=	प्राप्त, उपलब्ध।
प्राणवत्ता	=	प्राणवान, जीवित होने का भाव।
मिल्कियत	=	वह जायदाद जिस पर मालिकाना हक हो।
अतिरंजित	=	बढ़ा-चढ़ाकर।
गंतव्य	=	मंजिल, पहुँचने का स्थान।
उत्सर्ग	=	त्यागना।
स्वत्व	=	अपना अधिकार।
मिदास	=	मिश्र का एक राजा जिसने ईश्वर से यह वरदान माँगा था कि मैं जिसका स्पर्श करूँ वह सोना बन जाए।
युद्धलिप्सा	=	युद्ध करने की इच्छा, मरने मारने की तीव्र इच्छा।
प्रदूषणकारी	=	विशेष रूप से दूषित करने वाला।
उर्जस्वी	=	शक्तिशाली, बलवान।
आत्मविस्मृति	=	आत्मा का ज्ञान न होना, भूल जाना।
अलम्	=	काफी, पर्याप्त।
अभ्युत्थान	=	उत्कर्ष, उदय।

समष्टि	=	समवेत सत्ता, संपूर्णता, व्यष्टि का विलोम।
संपृक्तता	=	लगाव।
भभूका	=	लपेट, शोला।
निस्सारता	=	असारता, जिसमे कोई तत्व न हो।
परिष्कार	=	शुद्धि, सजावट।
चिदंश-(चित्त+अंश)	=	चित्त (मन) का हिस्सा।
नेपथ्य	=	पर्दे के पीछे।
यंत्राबद्ध	=	यंत्रो से बधा हुआ।

भारतीयता

परिवृत्ति	=	दायरा।
शिरसावतंस	=	सिर का गहना।
बेसर	=	नाक का एक गहना।
सुखालस	=	सुख से प्राप्त आलस्य।
दाय	=	देने योग्य धन, जिसे किसी को देना हो।
तंद्रा	=	ऊँघ, क्लांति।
परंपरा-द्वेषी	=	परंपरा से ईर्ष्या करने वाला।
परमुखापेक्षी	=	दूसरे का मुँह जोहने वाला, स्वय निर्णय नही लेने वाला।
आत्मरत	=	अपने में लीन।
वैशिष्ट्य	=	विशिष्टता, विशेषता।
खिसियानी	=	लज्जित होकर।
गत्यात्मक	=	(गति-चाल+आत्मक-युक्त) हरकत करना।
आत्मसात	=	अपने अधिकार में।
पाथेय	=	वह वस्तु जिसे पथिक राह में खाने के लिए अपने साथ ले जाता है।
औदासीन्य	=	उदासीनता।

समकालीन	=	एक समय में रहने या होने वाला।
मेधावी	=	मेधा युक्त, बुद्धिमान।
सरणि	=	प्रवाह।
कृतयुग	=	सतयुग।
अध्येता	=	अध्ययन करने वाला।
ऐहिक	=	इस लोक से संबंध रखने वाला।
निमिष-पल	=	पलक झपकाते ही।
स्खलन	=	पतन, मार्ग से विचलित।
कल्पांत	=	युग युगांतरों के बाद तक।
नगण्य	=	तुच्छ, निकृष्ट।
अवज्ञा	=	अनादर, अपमान।
दैहिक	=	शरीर का।
चिरंतन	=	बहुत समय से चले आने वाला।
अभीष्ट	=	चाहा हुआ।
परिव्यास	=	चारों ओर से फैला हुआ।
अनुप्राणित	=	पोषित, पुष्ट किया हुआ।
अग्राह्य	=	ग्रहण नहीं करने योग्य।
अनात्मा	=	जड़, चेतना-रहित।
त्याज्य	=	त्यागने योग्य।
अनुप्राणित	=	प्रेरित, जिसमें जीवनशक्ति भरी है।
अवज्ञा	=	आज्ञा का उल्लंघन करना, उपेक्षा।
निरी	=	कोरी।
अनादि	=	आदि रहित, नित्य।
मोह-अंधकार-ग्रस्त	=	मोह रूपी अंधकार में डूबा हुआ।

साहित्य की साधना

विदग्धवापी	=	सुंदर और रमणीय तालाब।

विच्छिन्न	=	पृथक्, अलग किया हुआ।
मर्त्यलोक	=	पृथ्वी लोक, जिसमें सभी प्राणी मरणशील हैं।
अखंडनीय	=	जिसका खंडन न हो सके, अविभाज्य।
मनोविश्लेषणशास्त्र	=	मन के विचारों की समीक्षा करने वाला शास्त्र।
मान	=	नाम, मूल्य।
कार्यान्वित	=	(कार्य+अनु+इत)=कार्य रूप में लाना, काम में लाना।
सुचिंतित	=	सुविचारित, अच्छी तरह सोचा हुआ।
नगण्य	=	तुच्छ।
रसास्वादन	=	(रस+आस्वादन) रस का स्वाद लेना, आनंद लेना।
आत्मसात	=	पूरी तरह से ग्रहण करना।
कृती	=	करने वाला, निपुण, कुशल।
आभरण	=	आभूषण।
अनुकरणीय	=	अनुकरण के योग्य।
कार्यान्वित	=	कार्य रूप में परिणत करना, लागू करना।
भावालुता	=	(भाव+आलु+ता) लगाव, प्रेम।
त्राण	=	रक्षा, बचाव।
परमुखापेक्षी	=	दूसरे का मुँह जोहने वाला।
प्रतिवाद	=	विरोध, खंडन।

ज़िन्दगी और मौत का दस्तावेज

हरम	=	अंतःपुर, महल के अंदर ज़नानखाना।
शग़ल	=	मनोविनोद।
रूमानी	=	स्वच्छंद प्रेम का भाव।
निरीश्वरवादी	=	ईश्वर की सत्ता न मानने वाला, नास्तिक।
रायल्टी	=	प्रकाशक द्वारा लेखक को दी जाने वाली धनराशि।
अस्थियाँ	=	हड्डियाँ। शव जलाने के बाद बची हुई हड्डियाँ।
विसर्जित	=	प्रवाहित।

जग मरि हैं, हम न मरब	=	संसार मर जाएगा, पर मै नहीं मरूँगा (कबीर वाणी)
वाल्तेयर	=	फ्राँस का प्रसिद्ध विचारक और साहित्यकार, जिसने अपनी रचनाओं में तत्कालीन धार्मिक रूढ़ियों और कुप्रथाओ पर कठोर प्रहार किया।
रहे काशी में और मरने गए मगहर	=	संत कबीर के लिए यह प्रसिद्ध है कि मरते समय काशी छोड़कर मगहर चले गए, क्योंकि वे इस मान्यता का विरोध करना चाहते थे कि काशी मे मरने से ही स्वर्ग मिलता है और मगहर में मरने से नरक। उन्होंने कहा भी है– "जो कबिरा कासी मरै, रामहिं कौन निहोरा।"
शाश्वत	=	नित्य, अमर।
तल	=	गहराई, असलियत।
यश लोलुप	=	यश चाहने वाला, यश पाने का इच्छुक।
वसीयत	=	मृत्यु के बाद अपनी संपत्ति के प्रबंध आदि के विषय मे किया हुआ आदेश।
अभिनंदन ग्रंथ	=	वह ग्रंथ जो किसी व्यक्ति के महत्त्वपूर्ण कार्यों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए दिया जाता है।
भटकैया	=	एक कटीला पौधा।
पादरी	=	ईसाई धर्म का पुरोहित।
विरोधाभास	=	विरोध का आभास।
हिदायत	=	आदेश, निर्देश।
कुत्सित	=	निन्दित, बुरे विचारो वाला।
ध्वंसकारी	=	नाशकारी, अमगलकारी।
नकारात्मक	=	व्यर्थ, बुरी शिक्षा देने वाला।

वापसी

ख़ातिर	=	सत्कार, आवभगत।
विषाद	=	दु:ख, उदासी।

बिछोह	=	वियोग, सगे-संबंधी से पृथक् होना।
सलज्ज	=	लज्जा युक्त।
अर्घ्य	=	देवताओं को अर्पित की जाने वाली वस्तु या जल।
खिन्नता	=	उदासी, भारी मन।
व्याघात	=	रूकावट, बाधा, खलल।
मर्तबान	=	अचार-मुरब्बा आदि रखने के लिए प्रयुक्त बरतन।
अलगनी	=	कपड़े टाँगने के लिए बाँधी गई रस्सी या बाँस।
लावण्यमयी	=	सुंदर, खूबसूरत।
निस्संग	=	निर्लिप्त, एकाकी, लगाव रहित।
फूहड़पन	=	भद्दापन, बेढंगापन।
शऊर	=	सलीका, ढंग।
अँगोछा	=	गमछा, तौलिया।
स्निग्ध	=	मधुर, प्रेम युक्त।
दायरा	=	घेरा, कार्यक्षेत्र।

सत्य का मूल्य

ज्येष्ठक	=	कर वसूल करने वाला व्यक्ति।
तृष्णा	=	सांसारिक वस्तुओं को पाने की तीव्र इच्छा।
योजन	=	दूरी नापने की इकाई। (दो, चार, आठ कोस की मतभेदमयी मितियाँ मानी जाती हैं। कोस की लंबाई चार सौ हाथ होती है। जैनी दस हज़ार कोस का योजन मानते हैं।
चक्रवर्ती	=	समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का अधिपति।
दिग्विजयी	=	चारों दिशाओं को जीतने वाला, सम्राट।
निश्शत्रु (निः+शत्रु)	=	जिसका कोई शत्रु न हो।
चीवर	=	बौद्ध संन्यासियों का वस्त्र विशेष जिसे शरीर के ऊपर धारण करते हैं।
पंच स्कन्ध	=	पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय - रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गंध।

तथागत	=	महात्मा बुद्ध।
अपरिमित	=	जिसकी सीमा न हो, असीम।
उपदेशामृत	=	उपदेश रूपी अमृत, अमृतवचन।
आभास्वर	=	चमकीला, एक देव वर्ग।
निर्वाण	=	मुक्ति, मोक्ष।
पद्मासन	=	योग का एक विशेष आसन।
निष्क्रिय	=	आलसी, क्रिया रहित।
दुराग्रह	=	जिद, हठ।
निश्चेष्ट	=	चेष्टा रहित।
हीनयान मार्ग	=	बौद्ध के दो मतो में से एक, दूसरा महायान।
द्रव्याभिलाषी	=	धन की इच्छा करने वाला।
शास्त्रार्थ	=	शास्त्रो के अनुसार वाद-विवाद।
आयुष्मान	=	लंबी आयु वाला, दीर्घायु।
वितृष्णा	=	घृणा।
परिहास	=	हँसी-मजाक।
वृत्तांत	=	वर्णन।
प्रतिहारी	=	द्वारपाल।

गूँगे

अवसाद	=	उदासी, शोक।
प्रतिहिंसा	=	हिसा के बदले मे की जानेवाली हिंसा।
लांछित	=	कलंकित।
आवेश	=	जोश, गुस्सा।
मक्कार	=	छल-कपट करनेवाला, छली।
क्षोभ	=	रोष, व्याकुलता।
विक्षोभ	=	क्षोभ, मन का आदेश।
विक्षुब्ध	=	अशांत, जिसका मन शांत या स्थिर न हो।

कर्कश	=	कठोर और तीव्र (बोली)।
भाव-भंगिमा	=	हाव-भाव, भाव को प्रकट करने के लिए शरीर के अंगो में वक्रता लाना।
काकल	=	टेंटुआ, कौआ, कंठ से ऊपर नीचे की ओर लटकता मास-पिण्ड जिसमे आवाज साफ निकलती है।
यातना	=	अतिकष्ट, पीड़ा।
तिरस्कार	=	उपेक्षा, अपमान अनादर।

भोर का तारा

अस्तव्यस्त	=	अव्यवस्थित, जहाँ-तहाँ बिखरा हुआ।
संजीदगी	=	गंभीरता।
अठखेली	=	किलोल, शोखी।
संधि	=	समझौता, मेल।
रीझना	=	प्रसन्न होना, मोहित होना।
टाट	=	पटसन का मोटा कपड़ा।
सलिल	=	वर्षा का जल, जल।
दावत	=	भोज।
क्षत्रप	=	किसी क्षेत्र का प्रधान अधिकारी।
अँगीठी	=	आग रखने का बरतन, बोरसी।
अरमान	=	कामना, इच्छा।
नादान	=	मूर्ख, अनभिज्ञ।
सिरताज	=	श्रेष्ठ, सरदार।
चिबुक	=	ठुड्डी।
सुरम्य	=	सुंदर, रमणीय, मनोहर।
तुरही	=	एक प्रकार का फूँककर बजाया जाने वाला बाजा, सिंघा, इसकी आवाज़ गंभीर और दूर तक सुनाई पडती है।
दृष्टिपात	=	अवलोकन, दृष्टि डालने की क्रिया।
कोलाहल	=	बहुत से लोगों के साथ बोलने का शोर, हंगामा।